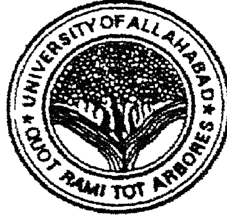
भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद
का
समीक्षात्मक विवरण

(Bhartiya Darshan Mein Pramanyavad Ka Sameekshatmak Vivaran)



इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी0फिल्0 उपाधि हेतु
प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध

शोध-कर्ता

सतीश चन्द्र दुबे

शोध-निर्देशक

प्रो. जगदीश सहाय श्रीवास्तव

भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

2002

प्राक्कथन

इस दृश्यमान् जगत् में वस्तुतत्त्व (Reality) क्या है? यह दर्शन की मुख्य समस्या रही है। इस वस्तुतत्त्व पर दो दृष्टियों से विचार किया जाता है। प्रथम इस दृष्टि से कि उसकी प्रतीति कैसे होती है? इस विवेचन को पाश्चात्य दर्शन के शब्दों में ज्ञानसिद्धान्त (Epistemology) कहा जाता है और भारतीय दर्शन में उसी का उल्लेख प्रमाण-निरूपण या प्रमाण-प्रकरण के रूप में किया जाता है। द्वितीय वस्तुतत्त्व पर उसके ज्ञान की समस्या को छोड़ कर वस्तु के स्वरूप की दृष्टि से विचार किया जाता है तो इस विवेचन को पाश्चात्य दर्शन की परिभाषा में सत्तामीमांसा (Ontology) कहते है और भारतीय दर्शन में इस विवेचन को प्रमेय-निरूपण या प्रमेय-प्रकरण नाम दिया गया है।

पाश्चात्य-दर्शन के ग्रीक तथा मध्य युगीन दर्शन में वस्तुतत्त्व की समस्या पर ज्ञान सिद्धान्त की दृष्टि से कम विचार किया गया है, उस समय तक ज्ञान-सिद्धान्त का पृथक रूप से निरूपण नहीं मिलता हैं। आधुनिक काल में देकार्त ने ज्ञान सिद्धान्त की दृष्टि से दार्शनिक समस्याओं का विवेचन प्रारम्भ किया और अनुभववादी दाशर्निक लॉक ने अपनी पुस्तक "An Essay Concerning Human Understanding" में ज्ञान के मूल स्रोत् सीमा, प्रामाणिकता आदि पर सुव्यवस्थित रूप से विश्लेषण किया तथा जर्मन दार्शनिक कान्ट का उद्घोष ‘‘दर्शनशास्त्र ज्ञान मीमांसा के रूप में ही सम्भव है’’ से ज्ञानमीमांसा अपने चरम पर पहुँची। किन्तु भारतीय दर्शन में प्रारम्भ से ही प्रमाण मीमांसा का निरूपण उपलब्ध होता है सभी दर्शनों ने अपने-अपने ढंग से प्रमाणों का विवेचन किया है।

प्रमाण-प्रकरण में आचार्यो ने प्रमाण का लक्षण, प्रकार, ज्ञान की प्रक्रिया तथा ज्ञान की यथार्थता एवं अयथार्थता का विवेचन

किया है। 'प्रमाण' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ- प्रमीयतेऽनेन तत्प्रमाणम्' अर्थात् जिससे वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है, वह प्रमाण है अथवा प्रमा का साधन प्रमाण कहलाता है। प्रमाण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान की यथार्थता या अयथार्थता का निश्चय कैसे होता है एतद्विषयक विवेचन भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद के नाम से पुकारा जाता है। प्रामाण्य शब्द का अर्थ है 'प्रमाणानां भाव: प्रामाण्यम्' अर्थात प्रमाणों की वास्तविकता। इस प्रकार प्रामाण्यवाद प्रमाण-निरूपण का वह अंग है जिसमें यह विचार किया जाता है कि ज्ञान की यथार्थता का निश्चय कैसे होता है। प्रामाण्य का अर्थ ही है ज्ञान की यथार्थता।

प्रमा, प्रमाण, भ्रम आदि पर व्यवस्थित एवं पर्याप्त सामग्री राष्ट्रभाषा हिन्दी में उपलब्ध है किन्तु प्रामाण्यवाद का समीक्षात्मक अध्ययन हिन्दी भाषा में अभी तक व्यवस्थित ढंग से उपलब्ध नहीं है। यद्यपि प्रमाण विवेचन करने वाले ग्रन्थों में यत्र-तत्र ऐसे कुछ अंश उपलब्ध होते हैं जिनमें प्रामाण्यवाद का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। मैंने अपने शोध-प्रबन्ध में प्रामाण्यवाद का विशद् एवं समीक्षात्मक विवरण अपने शोध-निर्देशक पूज्य गुरूवर प्रो. जगदीश सहाय श्रीवास्तव (पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद) के कुशल निर्देशन में तत्परतापूर्वक पूर्णता तक पहुँचाने का प्रयास किया है।

विषय वस्तु की दृष्टि से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है-

प्रथम अध्याय- 'प्रस्तावना' (भारतीय प्रमाणमीमांसा का संक्षिप्त परिचय) के अन्तर्गत प्रमाण-निरूपण का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करते हुए भारतीय दार्शनिक-सम्प्रदायों के विभिन्न आचार्यों का

परिचय तथा अपने विशिष्ट सम्प्रदाय में उनके योगदान (विशेष रूप से प्रमाण विषयक) का विवेचन किया है।

द्वितीय अध्याय– 'ज्ञान का स्वरूप' में विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के अनुसार ज्ञान का स्वरूप, विशिष्ट लक्षण, ज्ञान के स्वप्रकाश और परप्रकाश तथा ज्ञान के भेद का समालोचनात्मक विश्लेषण किया गया है।

तृतीय अध्याय– 'प्रमा का स्वरूप' के अन्तर्गत प्रमा के लक्षण को लेकर विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है। अन्त में विभिन्न दार्शनिक–सम्प्रदायों के अनुसार प्रमा का समीक्षात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है।

चर्तुथ अध्याय– 'प्रमाण का स्वरूप' के अन्तर्गत प्रमाण के सामान्य लक्षण पर विचार करते हुए विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के अनुसार प्रमाण के विशिष्ट लक्षणों के निरूपण के साथ ही तर्कसंगत निष्कर्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। अन्त में विभिन्न भारतीय दर्शनों में मान्य प्रमाणों की संख्या का उल्लेख प्रस्तुत अध्याय में है।

पंचम अध्याय– 'ख्यातिवाद' के अन्तर्गत सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में भ्रम विषयक मतों का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि ख्यातिवाद का प्रामाण्यवाद से गहरा सम्बन्ध है क्योंकि भ्रम होने पर प्रामाण्य का अभाव होता है।

षष्टम अध्याय– 'प्रामाण्यवाद' जो प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का प्रतिपाद्य विषय है, के अन्तर्गत प्रमाण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान की यथार्थता या अयथार्थता का निश्चय कैसे होता है, ज्ञान का प्रामाण्य स्वत: है या परत:, का समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। प्रामाण्यवाद को पूर्वमीमांसा का प्रामाण्यवाद, न्याय-वैशेषिक का प्रामाण्यवाद, बौद्ध दर्शन का प्रामाण्यवाद, जैन दर्शन का प्रामाण्यवाद, सांख्य-योग का प्रामाण्यवाद तथा वेदान्त का प्रामाण्यवाद आदि उपखण्डों में विभाजित कर प्रामाण्यवाद के सम्पूर्ण पक्षों पर एक समालोचनात्मक दृष्टि डाली गयी है।

सप्तम अध्याय– 'समालोचनात्मक निष्कर्ष' में शोध-प्रबन्ध के सारतत्त्व एवं स्थापना पर विचार करने का प्रयास किया गया है।

अन्त में शोध से सम्बन्धित आधारभूत पुस्तकों एवं सहायक संदर्भ-ग्रथों की सूची प्रस्तुत है।

इस शोध-प्रबन्ध को पूर्णता प्रदान करने में दर्शनशास्त्र विभाग के गुरूजन स्व. प्रो. संगम लाल पाण्डेय का आशीर्वचन एवं दिशा-निर्देशन उनके परमतत्त्व में विलीन होने तक बना रहा जिसका मैं आजीवन आभारी रहूँगा। इसके अतिरिक्त प्रो. डी. एन. द्विवेदी, प्रो. आर. एल. सिंह, डॉ. मृदुला रवि प्रकाश (विभागाध्यक्ष), डॉ. नरेन्द्र सिंह डॉ. गौरी चट्टोपाध्याय, डॉ. जटा शंकर त्रिपाठी, डॉ. एच. एस. उपाध्याय एवं डॉ. आशा लाल के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके स्नेहिल झरनों से नि:सृत असीम कृपा एवं आशीर्वाद के परिणाम स्वरूप ही मेरे लिए दुर्बोध सा प्रतीत होने वाला यह विषय सुगम बन सका। इस शोध-प्रबन्ध के पूर्ण होने में मैं अपने शोध-निर्देशक प्रो. जगदीश सहाय श्रीवास्तव की धर्मपत्नी श्रीमती शुभा श्रीवास्तवा के वात्सल्य-उत्साह वर्धन, आशीर्वाद एवं सहयोग को कदापि विस्मृत नहीं कर सकता।

उन्हें धन्यवाद ज्ञापित कर उनसे ऋणमुक्त नहीं होना चाहता, एतदर्थ मैं मात्र इतना ही कह सकता हूँ कि उनके कृतज्ञता भार से मेरा मस्तक सर्वदा उनके प्रति नत रहेगा और मैं आजीवन उनका ऋणी रहूँगा।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के सफलता पूर्वक सम्पन्न होने के लिए मैं गार्हस्थ्य जीवन के झंझावात में निरंतर संघर्षरत कर्मठता के प्रतीक पूज्य पिता श्री बद्री प्रसाद दुबे एवं धर्ममयी वात्सल्य और करूणा की साक्षात प्रतिमूर्ति पूज्या माता श्रीमती कान्ति दुबे का चिर ऋणी हूँ जिनकी प्रेरणा एवं आशीर्वाद ने मुझे इस योग्य बनाया। इसी क्रम में मैं अपने अग्रज श्री शीतला प्रसाद दुबे एवं ममतामयी भाभी श्रीमती सन्ध्या दुबे, अनुज श्री हरीश चन्द्र द्विवेदी, विजय प्रकाश पाण्डेय, योगेश मिश्र, हिमाँशु पाण्डेय, श्री अखिलेश कुमार सिंह, श्री बृजेश कुमार यादव, भतीजी प्रज्ञा दुबे एवं भांजा आर. के. पाण्डेय से शोध कार्य में मिलने वाले उपयुक्त वातावरण एवं अन्य सभी प्रकार के सहयोग के लिए इनके प्रति हृदय से धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

कृतज्ञता का यह कार्य अपूर्ण ही रह जायेगा यदि मैं (अपने) अग्रज तुल्य श्री अशोक कुमार शुक्ला, श्री राजीव दीक्षित, श्री अविनाश तिवारी, श्री नीरज शुक्ला, श्री प्रवीण कुमार त्रिपाठी एवं बाल सखा श्री पीयूष पाण्डेय, श्री उमेश मिश्र, श्री राम प्रकाश पाण्डेय, श्री दिनेश गुप्ता, श्री देवानन्द त्रिपाठी, श्री मनोज पाण्डेय, श्री संजय शुक्ला के प्रति कृतज्ञता प्रकट नहीं करता हूँ, जिन्होने शोध कार्य में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग दिया। विशेषत: मैं श्री अनन्त कुमार, जय सिंह, राकेश लाल, श्री राजेश कुमार द्विवेदी, रमेश सिंह एवं रोहित द्विवेदी के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिनके अथक् प्रयास एवं आत्मीय सहयोग के बिना मेरा

यह कार्य शीघ्र सम्पन्न नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त मैं अपने विभागीय सहपाठियों एवं सहयोगियों के प्रति आभारी हूँ।

अन्त में उन सभी विद्वानों एवं लेखकों का हृदय से आभारी हूँ जिनकी अमर कृतियों से इस शोध-प्रबन्ध के लेखन में सहयोग प्राप्त हुआ, तथापि-

येषां गुरूणां कृपया महत्या यत्नेन येषां सुहृदाम वरेण।
श्रमेण येषां परिपूर्णमेतत् तेषां कृते मे बहुधन्यवादाः।।

दिसम्बर, 2002
इलाहाबाद

सतीश चन्द्र दुबे
दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रथम अध्याय

प्रस्तावना

प्रथम अध्याय

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदायों में तत्त्वमीमांसा के साथ प्रमाणमीमांसा भी उपलब्ध होती है। यद्यपि प्रमाणमीमांसा का विवेचन कहीं मुख्य रूप से हुआ है तो कहीं गौण रूप से। सभी भारतीय दर्शनों का उद्देश्य तत्त्व विवेचन के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना है फिर भी तत्त्व विवेचन प्रमाणों के बिना सम्भव नहीं है। न्याय दर्शन को तो प्रमाणशास्त्र ही कहा गया है। न्याय[1] शब्द की व्याख्या 'प्रमाणों के द्वारा अर्थ परीक्षण' के रूप में की गयी है, जिससे सिद्ध होता है कि न्याय दर्शन प्रमाण प्रधान दर्शन है। प्रमाणमीमांसा में प्रमाण के स्वरूप, संख्या, प्रामाण्य, सीमा आदि का विश्लेषण किया जाता है। हमारे ज्ञान का साधन क्या है? हम किन-किन विषयों को जान सकते हैं और किन-किन को नहीं? दर्शन और प्रमाणमीमांसा में घनिष्ट सम्बन्ध है, बल्कि यह कहा जा सकता है कि दर्शन प्रमाणमीमांसा पर आधारित है। पाश्चात्य जर्मन विचारक कान्ट का तो यहाँ तक विचार है कि 'दर्शन ज्ञानमीमांसा के रूप में ही सम्भव है, तत्त्वमीमांसा के रूप में असम्भव।' अतः दार्शनिकों के लिए यह आवश्यक है कि तत्त्वमीमांसीय विषयों का विवेचन प्राप्त करने के पूर्व ज्ञानमीमांसा का विश्लेषण करें। उल्लेखनीय है कि ज्ञानमीमांसा और प्रमाणमीमांसा एक है, क्योंकि **"ज्ञायतेऽनेनज्ञानं, तस्य मीमांसा"** इस व्युत्पत्ति के आधार पर जिससे जाना जाय, वह ज्ञान है, उसकी मीमांसा ज्ञानमीमांसा कहे जाने से ज्ञानमीमांसा का अभिप्राय प्रमाणमीमांसा से ही हो जाता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तत्त्वमीमांसीय विवेचना का प्रारम्भ प्रमाणमीमांसा के विश्लेषण से होना चाहिए, क्योंकि प्रमाणमीमांसा दर्शन की आधारशिला है जिस पर दर्शन की इमारत

खड़ी की जा सकती है। पाश्चात्य अनुभववादी विचारक जॉन लॉक का विचार था कि जब तक ज्ञान के स्रोत, ज्ञान के स्वभाव, ज्ञान की प्रामाणिकता तथा ज्ञान की सीमा का निर्धारण न हो जाय, तब तक हमें तत्त्व-अनुशीलन की ओर प्रवृत्त ही नहीं होना चाहिए। दुःखों का आत्यन्तिक क्षय दर्शन का लक्ष्य है और वह तत्त्वज्ञान से ही सम्भव है, जो कि तत्त्वमीमांसा अथवा प्रमेयमीमांसा पर निर्भर है। प्रमेयमीमांसा अर्थात प्रमेयों का विचार प्रमाणों के आधार पर ही सम्भव हो सकता है। कहा गया है- **"प्रमेयसिद्धि प्रमाणाद्धि:"** अर्थात प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणों से ही हो सकती है। किसी भी पदार्थ के यथार्थ ज्ञान व अनुभव के लिए उसके साधन (प्रमाण) का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। सभी शास्त्रकार प्रमाणों द्वारा ही स्वपक्ष की स्थापना तथा परपक्ष का खण्डन करते हैं। सभी प्राच्य एवं पाश्चात्य दार्शनिक निश्चित ही कुछ प्रमाणों की सत्ता स्वीकार करते हैं।

भारतीय दर्शन में प्रमाणमीमांसा का महत्त्व प्रारम्भ से ही रहा है। प्रमाण, प्रमा, ख्याति, और प्रामाण्य आदि को लेकर भारतीय दार्शनिकों ने बहुत सूक्ष्म चिन्तन किया। उल्लेखनीय है कि प्रत्येक ज्ञानमीमांसीय पद्धति का किसी न किसी तत्त्वमीमांसा से घनिष्ट सम्बन्ध है। कहने का तात्पर्य यह है कि न्याय तर्कशास्त्र और उसकी तत्त्वमीमांसा में वैसा ही गहरा सम्बन्ध है जैसा बौद्ध या जैन तर्कशास्त्र और उनके निकायों की तत्त्वमीमांसा से। योरोपीय तर्कशास्त्र का विषय अनुमान-प्रक्रिया रही है, जबकि भारतीय तर्कशास्त्र प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द तथा उपमान आदि ज्ञान के सभी स्रोतों पर विचार करता है। प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में बहुत अधिक चिन्तन होने के कारण प्रमाणों के लक्षण और संख्या, विभिन्न प्रमाणों के विषय, प्रमा के स्वरूप, प्रामाण्य का स्वरूप, और प्रामाण्यवाद आदि पर सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में गम्भीर मतभेद है।

भारतीय न्यायशास्त्र का मुख्य विभाजन निम्नलिखित सम्प्रदायों में हुआ है-

1. प्राचीन न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय
2. नव्य न्याय सम्प्रदाय
3. बौद्ध न्याय
4. जैन न्याय
5. सांख्य-योग न्याय
6. मीमांसा न्याय
7. वेदान्त न्याय

1. प्राचीन न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय :-

प्राचीन न्याय-वैशैषिक सम्प्रदाय के ग्रन्थकारों को क्रमशः निम्नलिखित क्रम में रखा जाता है। सबसे पहले महर्षि गौतम उसके पश्चात् क्रमशः भाष्यकार वात्स्यायन, वार्त्तिककार उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट, उदयनाचार्य, भासर्वज्ञ आदि। वैशेषिकों में सबसे पहले महर्षि कणाद् उनके पश्चात् क्रमशः प्रशस्तपाद, शिवादित्य, श्रीधराचार्य, वल्लभाचार्य, व्योमशिवाचार्य, शंकर मिश्र आदि प्रमुख हैं। प्रमाणमीमांसा का शास्त्रीय विवेचन गौतम के 'न्यायसूत्र' से आरम्भ होता है। इससे पूर्ववर्ती काल में न तो बौद्ध न्याय के किसी ग्रन्थ में और न जैन न्याय के किसी ग्रन्थ में प्रमाणमीमांसा का व्यवस्थित विवेचन प्राप्त होता हैं। इससे स्पष्ट है कि न्याय (ज्ञान) के शास्त्रीय विवेचन के प्रवर्तक महर्षि गौतम ही हैं। महर्षि गौतम ने प्रमाणमीमांसा का विश्लेषणात्मक तथा शास्त्रीय अध्ययन किया।

वात्स्यायन ने न्यायसूत्र पर भाष्य लिखा है जो वात्स्यायनभाष्य नाम से प्रसिद्ध है। भाष्य सूत्रों की व्याख्या की एक विशिष्ट विद्या है जिसमें सूत्र के पदों के अनुसार सूत्रार्थ का वर्णन किया जाता है तथा नये पदों का भी वर्णन किया जाता है उसे विद्वान भाष्य कहते हैं।[2]

उद्योतकर ने वात्स्यायनभाष्य पर वार्त्तिक लिखा है। भाष्य के समान वार्त्तिक[3] भी व्याख्या की एक स्वतन्त्र विधा है जिसमें उक्त, अनुक्त और द्विरुक्त का विचार किया जाता है। डॉ. सतीश चन्द विद्याभूषण ने अपनी पुस्तक "हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक" में उद्योतकर की धर्मकीर्ति का समकालीन माना है। उनका विचार है उद्योतकर ने अपने वार्त्तिक में जिस वादविधि नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है वह धर्मकीर्ति का वादन्याय ही है। दूसरी ओर धर्मकीर्ति ने अपने 'न्यायविन्दु' में शास्त्रकार के रूप में वार्त्तिककार उद्योतकर का उल्लेख किया है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र षड्दर्शन टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने धर्मकीर्ति के आक्षेपों का समाधन करने के लिए उद्योतकर के वार्त्तिक पर 'न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य' टीका लिखी है। ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' पर इनकी "सांख्य-तत्त्वकौमुदी" नाम की व्याख्या है। आचार्य शंकर के भाष्य पर 'भामती' नाम से टीका लिखी है। आचार्य वाचस्पति मिश्र, आचार्य धर्मकीर्ति के पश्चात हुए। इन्होने आचार्य धर्मकीर्ति का कीर्ति नाम से उल्लेख अपने ग्रन्थ न्यायकणिका में किया है। न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट वाचस्पति मिश्र के उत्तरभावी है। इन्होंने न्यायमञ्जरी में "आचार्यास्तु" कहकर वाचस्पति मिश्र के मत को उपस्थित किया है।[4]

नैयायिकों की परम्परा में जयन्त भट्ट का बहुत विशिष्ट स्थान है। इन्होंने 'न्यायमञ्जरी' ग्रन्थ की रचना की। यों तो न्यायमञ्जरी एक स्वतंत्र ग्रन्थ है पर उसकी विषय वस्तु का क्रम न्यायसूत्र में परिगणित सोलह पदार्थो पर ही आधारित है। अतः अत्यन्त मौलिक होने पर भी वह एक वृत्ति के रूप में ही अधिक प्रख्यात हुई। न्यायमञ्जरी की सबसे बड़ी विशेषता इसकी प्रश्नोत्तर शैली है। जयन्त भट्ट न्याय में एक नई शैली के जनक भी हैं। न्याय में तुलनात्मक विश्लेषण का सूत्रपात जयन्त भट्ट ने ही किया।

उदयनाचार्य के समय से न्याय-वैशेषिक का सम्मिलित युग प्रारम्भ होता है। उदयन उन आचार्यों में हैं, जिन्होंने न्याय और वैशेषिक दोनों शास्त्रों पर प्रमाणिक ग्रन्थ लिखे और भावी प्रकरण ग्रन्थों के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया। उदयन के छः ग्रन्थों में से **''न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि''** और **'न्याय-परिशिष्ट'** न्याय सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। **'किरणावली'** और **'लक्षणावली'** में वैशेषिक के सिद्धान्तों का विवेचन है तथा **'न्यायकुसुमाञ्जलि'** और **'आत्मतत्त्वविवेक'** स्वतंत्र या प्रकरण ग्रन्थ है। भारतीय दर्शनशास्त्र में उदयनाचार्य का वही स्थान है जो मणियों में श्वेतमणि का है जिसकी कान्ति से कोई भी विशेषज्ञ मुग्ध हो सकता है। वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका पर **'परिशुद्धि'** नामक व्याख्या में उन्होंने बौद्ध तर्किकों द्वारा वाचस्पति पर किये गये आक्षेपों का समाधान किया है।[5] उदयनाचार्य का जैनों और बौद्धों से विवाद हुआ था और उन्होंने बौद्ध, जैन मत का मूलोच्छेद कर दिया था। यह बात जैन ग्रन्थों से स्पष्ट होती है।

भासर्वज्ञ ने नयी प्रणाली का सूत्रपात किया। इनके पहले वैदिक नैयायिकों ने प्रमाणों के साथ प्रमेयों का विवेचन भी किया, किन्तु भासर्वज्ञ ने अपने ग्रन्थ **'न्यायसार'** में केवल प्रमाणों का ही विश्लेषण करके न्याय में एक नई प्रणाली का सूत्रपात कर गंगेश आदि के लिए मार्ग प्रशस्त किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने उपमान को प्रमाण नहीं माना। भासर्वज्ञ ही पहला नैयायिक था जिसने न्याय की पद्धति बौद्धों से ली और विषयवस्तु प्राचीन नैयायिकों से।

महर्षि कणाद वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक हैं जिन्हें कण-भुक्, काश्यप और औलूक भी कहा जाता है। **'कणान् अत्तीति कणादः।'**[6] इनके विषय में यह कहा जाता है कि स्वयं भगवान महेश्वर ने उल्लू के रूप में प्रगट होकर षट पदार्थो का उपेदश दिया था। उसके पश्चात् महर्षि ने लोक कल्याण की कामना से वैशेषिक सूत्रों

की रचना की। इसलिए इस दर्शन को सर्वदर्शनसंग्रहकार ने **'औलूक्य दर्शन'** की संज्ञा प्रदान की।'[7]

प्रशस्तपादाचार्य ने महर्षि कणाद के सूत्रों पर जो भाष्य लिखा है वह **'प्रशस्तपादभाष्य'** के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ भाष्य के लक्षण के अनुसार भाष्य नहीं है[8], क्योंकि जिसमें सूत्र के पदों के अनुसार सूत्रार्थ का वर्णन किया जाता है उसे ही विद्वान भाष्य कहते हैं। इसमें सूत्र के पदों के अनुसार सूत्रार्थ का वर्णन नहीं है। प्रशस्तपाद ने इसे **'पदार्थ-धर्म-संग्रह'** कहा। प्रशस्तपाद के 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' निदर्शनाभास आदि के वर्णन से उन पर आचार्य दिनाग का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। निदर्शनाभासों का वर्णन दिङ्नाग के पूर्व न्यायसूत्र या न्याय भाष्य में उपलब्ध नहीं हैं, यह दिङ्नाग से प्राप्त है। 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' पर अनेक टीकायें हैं, जिनमें व्योमशिवाचार्य की **'व्योमवती'** श्रीधर[9] के **'न्याय-कन्दली'** और उदयन की **'किरणावली'** सर्व विश्रुत है।

श्री वल्लभाचार्य की **'न्याय-लीलावती'** वैशेषिक दर्शन की एक मौलिक रचना है। वल्लभाचार्य के साथ ही प्राचीन न्याय शास्त्रीय इतिहास का समापन हुआ और इसके उपरान्त न्याय शास्त्रीय विवेचन ने एक नयी दिशा ली जिसे हम नव्य-न्यायशास्त्र का अभ्युदय कहते हैं।

2. नव्य न्याय सम्प्रदाय :-

आचार्य गंगेशोपाध्याय को नव्य-न्याय का प्रवर्तक माना जाता है। गंगेश के अतिरिक्त पक्षधर मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि, वर्धमान उपाध्याय, जगदीश तर्कालंकार, विश्वनाथपञ्चानन, गदाधर भट्टाचार्य, वासुदेव सार्वभौम, मथुरानाथ तर्कवागीश आदि प्रमुख है।

आचार्य गंगेश नव्य-न्याय के जन्मदाता हैं। इन्होंने **'तत्त्वचिन्तामणि'** ग्रन्थ लिखकर न्यायदर्शन में ही नहीं अपितु सभी भारतीय विधाओं में क्रांति कर दी। इन्होंने चिन्तन और लेखन की

प्रक्रिया ही बदल दी। गंगेश की उपलब्धि दर्शन के इतिहास में अद्वितीय है। सम्पूर्ण मध्यकाल के शास्त्रीय इतिहास में ऐसा कोई लेखक नहीं हुआ जिसकी कृति ने इतना प्रभावित किया हो जितना केवल एक '**तत्त्वचिन्तामणि**' ग्रन्थ ने प्रभावित किया है। 'तत्त्वचिंतामणि' चार भागों में विभाजित है, इसमें चार प्रमाणों का– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार खण्डों में विवेचन है। इनकी प्रतिज्ञा ही थी कि "प्रमाण तत्त्वमत्र विविच्यते"[11] इसीलिए नव्य–न्याय को प्रमाणशास्त्र कहा जाता है। गंगेश का अध्ययन प्राचीन न्यायदर्शन तथा मीमांसा के प्रभाकर संम्प्रदाय से प्रभावित था। इनके मुख्य प्रतिद्वन्दी प्रभाकर मीमांसक थे। गंगेश के समय मिथिला में प्रभाकर का विशेष प्रभाव था।

तत्त्व–चिन्तामणि पर वर्धमान की '**प्रकाश**' तथा पक्षधर मिश्र की '**आलोक**' नामक टीकाएं विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। गंगेश वर्धमान तथा पक्षधर मिश्र के ग्रन्थों पर मिथिला में अनेक टीकाएं लिखी गयी, जिन्में नव्य–न्याय की 'मिथिला–शाखा' उत्पन्न हुई है। फिर पक्षधर मिश्र के शिष्य वासुदेव सार्वभौम ने नवद्वीप में लगभग 1600 ई. में नव्य–न्याय की दूसरी शाखा का सूत्रपात किया जिसे '**नवद्वीप–शाखा**' कहा जाता है। रघुनाथ शिरोमणि, जगदीश तर्कालङ्कार तथा गदाधर भट्टाचार्य इस शाखा के श्रेष्ठ नैयायिक हैं।

रघुनाथ शिरोमणि ने तत्त्व चिन्तामणि पर 'दीधिति' नामक टीका लिखी है। गदाधरभट्टाचार्य ने इस 'दीधिति' पर जो टीका लिखी है उसको उन्हीं के नाम पर 'गदाधरी' कहा गया है। जगदीश तकालङ्कार ने दीधिति पर '**प्रकाशिका**' नामक टीका लिखी है जिसे प्रायः 'जागदीशी' कहा जाता है। दीधिति, जागदीशी और गदाधरी नवद्वीप के नव्य–न्याय के तीन श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं।

3. बौद्ध न्याय

गौतम बुद्ध ने न्याय की समस्याओं पर विचार नहीं किया है। उत्तरवर्ती बौद्ध दार्शनिकों ने न्याय की शैली को अपनाने के अतिरिक्त न्याय के विषयों पर भी चर्चा की है। बौद्ध न्याय के प्रतिनिधि दार्शनिक असंग, बसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तिरक्षित और कमलशील हैं।

असंग संभवतः प्रथम आचार्य थे जिन्होंने तार्किक आधार पर विज्ञानवाद को स्थापित करने का प्रयत्न किया।[12] असंग ही प्रथम बौद्ध दार्शनिक थे जिन्होंने विज्ञानवाद की स्थापना के लिए नैयायिकों के पञ्चावयवी परार्थानुमान को बौद्ध क्षेत्र में व्यवहारतः प्रचलित किया। ये पहले वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुयायी थे। आचार्य मैत्रेय के सम्पर्क से विज्ञानवादी हो गये थे। ये प्रसिद्ध दार्शनिक बसुबन्धु के ज्येष्ट भ्राता थे जो द्वितीय बुद्ध के रूप में दार्शनिक जगत में प्रसिद्ध हैं।[13] असंग की महत्वपूर्ण देन उनका बौद्ध न्याय अथवा प्रमाणशास्त्र है, जो **"महायानाभिधर्म-संयुक्त-संगितिशास्त्र"** के सातवें तथा सोलहवें खण्ड में उपलब्ध होता है।

प्रारम्भ में सर्वास्तिवादी थे। असंग के प्रभाव में वे विज्ञानवादी हो गये थे। वसुबन्धु का विज्ञानवाद में अतुलनीय देन है। उनकी 32 पुस्तकें उपलब्ध होती हैं। उनमें से बौद्ध न्याय की दृष्टि से तीन प्रसिद्ध हैं। न्याय ग्रन्थों का अपूर्ण अनुवाद चीनी भाषा में उपलब्ध है। इसका नाम **'वाद-विधि'** है। इसमें वर्तमान अंशों को देखने से गौतमीय नैयायिकों के साथ इनका घनिष्ठ साम्य लक्षित होता है।[14] इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त एक **'तर्कशास्त्र'** नामक ग्रन्थ भी वसुबन्धु ने लिखा था जो कि चीनी अनुवाद के रूप में प्राप्त है।

बौद्ध न्याय के पिता आचार्य दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे। बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदायों का पृथक विकास होने पर भी बौद्ध न्याय का विकास चौथी शताब्दी तक नगण्य ही था। नागार्जुन ने

तीसरी सदी में न्याय पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा, किन्तु वह केवल प्राचीन गौतमीय न्याय सिद्धान्तों की आलोचना मात्र थी। मैत्रेय, असंग और वसुबन्धु द्वारा चलाया गया न्याय केवल विज्ञानवाद पर ही आधारित नहीं था, उसमें वैभाषिक सिद्धान्तों का भी पुट था। बौद्ध न्याय को विज्ञानवाद की भित्ति पर स्थापित करने का श्रेय दिङ्नाग को ही है। दिङ्नाग ने दर्शन और धर्म से पृथक न्याय की स्वतन्त्र विधा की स्थापना की और दर्शन की सार्वभौमिक मान्यता के लिए उसे तार्किक भित्ति प्रदान की। दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे। दिङ्नाग की प्राय: सभी कृतियाँ न्याय से सम्बद्ध है। 'प्रमाणसमुच्चय', 'न्यायप्रवेश', 'आलम्बन परीक्षा', 'न्यायमुख', आदि इनके न्याय पर प्रमुख ग्रन्थ हैं। इनमें से प्रमाणसमुच्चय प्रधान है।

बौद्ध न्याय को सुव्यवस्थित करने का श्रेय दिङ्नाग को है। गौतमीय नैयायिकों के पञ्चावयवों का निराकरण करके दिङ्नाग ने तीन अवयवों- प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण को ही अनुमान का अंग माना है। प्रत्यक्ष और अनुमान के जो लक्षण गौतम और वात्स्यायन ने दिये थे उनका खण्डन दिङ्नाग ने इतने अभिनिवेश के साथ किया है कि ब्राह्मण दार्शनिक उद्योतकर को वात्स्यायन के भाष्य पर दिङ्नाग के सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिए वार्त्तिक की रचना करनी पड़ी। कुमारिल भट्ट ने भी दिङ्नाग के सिद्धान्तों का बड़े विस्तार से "श्लोकवार्तिक" में खण्डन किया है।

दिङ्नाग के पश्चात् बौद्धन्यायशास्त्र के उल्लेखनीय तर्कशास्त्री धर्मकीर्ति प्रसिद्ध हैं। इन्होनें शुरू में परम्परागत पद्धति से ब्राह्मण शास्त्रों का अध्ययन किया था। बाद में बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये और वसुबन्धु के शिष्य से शिक्षा प्राप्त करने नालन्दा आये। इन्होने दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन से शिक्षा ग्रहण की थी। इनके अलौकिक प्रतिभा की प्रशंसा प्रतिपक्षी विद्वानों ने भी की है। जयन्त भट्ट ने जो कि धर्मकीर्ति के प्रखर आलोचक थे उन्हें 'सुनिपुणबुद्धि'

और 'जगदभिभवधीर' कहा है।[15] धर्मकीर्ति ने सभी ग्रन्थ न्यायशास्त्र से सम्बन्धित है, किन्तु इनमें बौद्धधर्म और विज्ञानवाद के सभी सिद्धान्त समाविष्ट हैं। यद्यपि धर्मकीर्ति द्वारा रचित न्यायग्रन्थ मूलतः दिङ्नाग की विस्तृत व्याख्या है तथापि ये दिङ्नाग की कृतियों से बहुत आगे निकल गये हैं। इनके सात ग्रन्थों में 'प्रमाणवात्तिक' सर्वप्रमुख है। इनमें बौद्ध विज्ञानवाद के प्रमेय और प्रमाण दोनों का विवेचन है। इसके अतिरिक्त इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं- 'प्रमाणविनिश्चय', 'न्यायबिन्दु', 'वादन्याय', 'सम्बन्धपरीक्षा, 'हेतु-बिन्दु', 'सामानान्तरसिद्धि'।

धर्मकीर्ति के पश्चात् शान्तिरक्षित, कमलशील, धर्मोत्तर और ज्ञानश्री आदि कई तार्किक हुये जिन्होंने बौद्ध न्याय की परम्परा को बनाये रखा था और अपने योगदान से बौद्ध के दीप को प्रज्ज्वलित करते रहे परन्तु धर्मकीर्ति के पश्चात् बौद्ध धर्म और दर्शन के ह्रास के साथ ही बौद्धन्याय का प्रकाश भी क्षीण होने लगा था, उसमें वह प्रकाश नहीं रह गयी थी।

4. जैन न्याय

जैन न्यायशास्त्र का उद्‌भव भी ब्राह्मण न्यायशास्त्र की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ही हुआ। महावीर स्वामी ने जैनन्याय पर विचार नहीं किया है। इस विधा का विकास उत्तरवर्ती जैन दार्शनिक अपने तन्त्र की रक्षा तथा दूसरों के तन्त्रों के खण्डन हेतु किया है। जैन न्याय के प्रवर्तक के रूप में भद्रबाहु प्रथम सदी के माने जाते हैं। उमास्वामी के ग्रन्थों में उसका कुछ स्वरूप यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है।[16] लेकिन व्यवस्थित रूप से जैन न्याय का आरम्भ सिद्धसेन दिवाकर के ग्रन्थ 'न्यायावतार' में ही उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्द, धर्मभूषण, आदि जैन नैयायिक प्रमुख हैं।

सिद्धसेन दिवाकर को ही जैन तर्कशास्त्र को वास्तविक रूप से व्यवस्थित करने का श्रेय है। डॉ. जैकोवी इन्हें धर्मकीर्ति का समकालीन विद्वान मानते हैं।[17] इनके विचार में न्यायावतार में प्रत्यक्ष लक्षण में जो अभ्रान्त पद आया है वह धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष लक्षण से लिया गया है। सिद्धसेन दिवाकर के प्रमुख ग्रन्थ **'सन्मति-तर्क'**, **'न्यायावतार'** प्रसिद्ध है। इनके सन्मति-तर्क पर अभयदेवसूरि ने विस्तृत व्याख्या लिखी है।

समन्तभद्र जैन न्याय के दूसरे प्रमुख दार्शनिक हैं। इनके महत्वपूर्ण ग्रन्थ- **'बृहत्स्वयंभूस्तोत्र'**, **'आप्तमीमांसा'**, **'युक्त्यनुशासन'** आदि हैं। न्याय की दृष्टि से समन्तभद्र की आप्तमीमांसा सर्वप्रमुख ग्रन्थ है। आप्तमीमांसा के चतुर्थ परिच्छेद में वर्णित कारिकाओं के पूर्वपक्षों की समीक्षा करने से ज्ञात होता है कि समन्तभद्र के सामने सम्भवतः दिङ्नाग के ग्रन्थ रहे हैं।

समन्तभद्र के उपरान्त जैन न्याय शास्त्री के रूप में आचार्य अकलंक का नाम आता है। इन्होनें आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा पर जो व्याख्या लिखी है वह **'अष्ट-शती'** के रूप में प्रसिद्ध है। यह जैन न्याय का अत्यन्त श्रेष्ठ ग्रन्थ है। माणिक्यनन्दि की 'परीक्षामुखसूत्र' इन्ही की दूसरी कृति **'न्याय-विनिश्चय'** पर आधारित है।

अकलंक के पश्चात् जैन न्याय के क्षेत्र में विद्यानन्द का कृतित्व उल्लेखनीय है। आचार्य विद्यानन्द का जैन तार्किकों में महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य प्रभाचन्द्र के **'प्रमेय-कमल-मार्तण्ड'** तथा **'न्याय-कुमुद-चन्द'** दोनों ही ग्रन्थों पर विद्यानन्द की कृतियों का अमिट प्रभाव है। इनके प्रमुख ग्रन्थ- **'अष्टसाहस्री'**, **'आप्तपरीक्षा'**, **'प्रमाणपरीक्षा'** आदि हैं। आचार्य विद्यानन्द की कृतियों में मण्डनमिश्र के मत का खण्डन उपलब्ध होता है। इन्होंने तत्त्वश्लोकवार्त्तिक में न्यायदर्शन के अनुमान सूत्र का खण्डन करते समय भाष्यकार और

वार्त्तिककार के मत को ही पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित किया गया है। अपने 'अष्टसाहस्री' में आचार्य विद्यनन्द ने सांख्यदर्शन, योग दर्शन, वैशेषिक दर्शन, अद्वैत दर्शन, मीमांसा दर्शन तथा तथागत दर्शन की आलोचना की है। इनके ग्रन्थों में दिड्.नाग, उद्योतकर, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर भर्तृहरि, शबरस्वामी, प्रभाकर सुरेश्वर आदि का उल्लेख है।

आचार्य विद्यानन्द के पश्चात् जैन न्यायशास्त्र में प्रमुख दार्शानिक- माणिक्यनन्दी (परीक्षामुखसूत्र), हेमचन्द्र (प्रमाण-मीमांसा), प्रभाचन्द्र (प्रमेय-कमल-मार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र) मल्लिषेणसूरि (स्याद्वादमञ्जरी), गुणरत्न (षड्दर्शन समुच्चयवृत्ति) यशोविजयगणि (जैनतर्कभाषा, न्याय-खण्डन खण्डखाद्य) धर्मभूषण (न्यायदीपिका)।

5. सांख्य-योग न्याय :-

सांख्य-योग दर्शन में तत्त्वमीमांसीय समस्याओं पर विस्तृत विवेचन हुआ है। न्यायशास्त्रीय विवेचन उनके ग्रन्थों में यत्र-तत्र ही उपलब्ध होता है। ईश्वरकृष्ण की **'सांख्यकारिका'** और वाचस्पति मिश्र की **'सांख्यतत्त्व-कौमुदी'** के न्यायशात्रीय विवेचन मिलता है। परम्परा के अनुसार सांख्यदर्शन के आदि-प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं जिन्हें आदि विद्वान भी कहा गया है। इन्होने उपनिषदों के आधार पर सांख्य के सिद्धान्तों को सूत्र-रूप में प्रतिपादित करके अपने शिष्य आसुरि के प्रति व्याख्यान किया था। आसुरि से यह शास्त्र उनके शिष्य पंचशिख को प्राप्त हुआ और फिर परम्परा से ईश्वरकृष्ण को इसका ज्ञान हुआ। कुछ विद्वानों की धारणा है कि आचार्य पंचशिख ने भी किसी सूत्रग्रन्थ की रचना की थी जिसके कुछ सूत्र योगभाष्य तथा वाचस्पति मिश्र की भामती में उद्धृत किये हुए मिलते हैं। लेकिन महर्षि कपिल एवं आचार्य पंचसिख की रचनाएं कालान्तर में लुप्त हो गयीं जिसके कारण सांख्य-दर्शन के प्राचीन स्वरूप का कोई प्रमाणिक ज्ञान नहीं हो सकता। इस समय

जो 'सांख्यप्रवचनसूत्र' उपलब्ध है वह बहुत प्राचीन नहीं है। उस पर अनिरुद्ध की वृत्ति तथा विज्ञानभिक्षु-कृत का 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य' प्रसिद्ध भाष्य है। 'सांख्य-प्रवचन-भाष्य' के अतिरिक्त 'योगवार्त्तिक', ब्रह्मसूत्र पर विज्ञानामृतभाष्य और सांख्यसार, योगसार नामक ग्रन्थ लिखें हैं।

सांख्य-शास्त्र का प्रचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ **'सांख्यकारिका'** है जिसकी रचना ईश्वरकृष्ण ने लगभग चौथी शताब्दी ईसवी में की थी। सांख्यदर्शन का सबसे प्राचीन सर्वागंपूर्ण ग्रन्थ होने के कारण सांख्यकारिका को ही इस शास्त्र का मूल ग्रन्थ माना जाता है। इस पर जितनी टीकाएँ लिखी गयी हैं उनमें **माठरवृत्ति युक्ति-दीपिका, गौड़पाद-भाष्य, जयमंगला तथा वाचस्पति मिश्र की** सांख्य-तत्त्व-कौमुदी का विद्वानों के बीच विशेष आदर है।

यद्यपि योगशास्त्र में हिरण्यगर्भ को योग का आदि वक्ता माना गया है- **''हिरण्यगर्भो योगस्थ वक्ता नान्यः पुरातनः''**[18] तथापि इस शास्त्र को सर्वागंपूर्ण रूप में व्यवस्थित करने का श्रेय महर्षि पतंजलि को है जिन्होंने सर्वप्रथम 'योगसूत्र' की रचना करके इस शास्त्र का व्याख्यान किया। यह योगसूत्र ही योग-दर्शन का मूलग्रन्थ है। इस पर सबसे प्राचीन उपलब्ध भाष्य व्यास का है जो 'व्यास-भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। व्यास-भाष्य में पंचशिख, वार्षगण्य और जैगीषव्य इन तीन सांख्य और योग के आचार्यो के वचन आदर के साथ उद्धृत किये गये हैं। किन्तु इस समय इन आचार्यो के ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। इस भाष्य पर वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्व-वैशारदी', विज्ञानभिक्षु का 'योगवार्तिक' तथा भोजदेव की 'भोजवृत्ति' का विद्वानों में विशेष आदर है। भोजवृत्ति को ही 'राजमार्तण्ड' कहते हैं।

6. मीमांसा न्याय :-

पूर्व-मीमांसा अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। इस दर्शन का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ 'जैमिनि-सूत्र' है जिसे मीमांसा दर्शन का मूल ग्रंथ मान कर विद्वानों ने उस पर अनेक भाष्य एवं टीकाओं की रचना की। इस ग्रन्थ के बारह विषय हैं जिनका बारह अध्यायों में विचार किया गया है। इस लिए इसे **'द्वादशलक्षणी'** भी कहा जाता है। इसके प्रथम अध्याय में जिसे तर्कपाद कहते हैं, धर्म-जिज्ञासा, धर्मलक्षण, धर्मप्रामाण्य, वेद-प्रामाण्य, शब्द-नित्यता तथा वेदापौरूषेयत्व का विचार किया गया है। वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करते हुए सम्भवतः सर्वप्रथम जैमिनि मुनि ने मीमांसासूत्रों में प्रामाण्यवाद के विचार का बीजवपन किया था, शाबरभाष्य में यह बीज अंकुरित हुआ और कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्त्तिक में पल्लवित होकर एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लिया।

जैमिनि-सूत्र पर सबसे प्राचीन व्यख्या शबर स्वामी का भाष्य है। इस भाष्य पर कुमारिल भट्ट, प्रभाकर मिश्र एवं मुरारि मिश्र इन तीन आचार्यो ने अपने-अपने व्याख्यान करके मीमांसा के अन्तर्गत तीन भिन्न मतों की स्थापना की। कुमारिल के सिद्धान्त को भट्ट-मत, प्रभाकर के मत को **गुरूमत** तथा मुरारि मिश्र के मत को **मिश्रमत** भी कहा जाता है।

आचार्य कुमारिल भट्ट का काल सातवीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने मीमांसा-सूत्रों पर तीन वार्त्तिकों की रचना की जिसके कारण इन्हें, वार्त्तिककार भी कहा जाता है। मीमांसासूत्र के तर्कपाद के ऊपर के वार्त्तिक को **श्लोकवार्त्तिक**, प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीय अध्यायान्त वार्त्तिक को **तन्त्रवार्त्तिक** तथा चतुर्थ अध्याय से आरम्भ करके बारहवें अध्याय पर्यन्त के वार्त्तिक को **टुप्टीका** कहते हैं।

मीमांसकों में आचार्य मण्डनमिश्र की विशेष प्रसिद्धि है। वे कुमारिल के प्रधान शिष्य थे। कहा जाता है कि जीवन के उत्तरार्द्ध में वे शंकराचार्य के शिष्य हो गये थे और सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। किन्तु यह केवल किंवदन्ती है, ऐसा अब सिद्ध हो गया है। उन्होने **'भावना-विवेक', 'विधि-विवेक', 'विभ्रमविवेक'** आदि ग्रन्थों की रचाना की थी। कुमारिल के दूसरे शिष्य प्रभाकर मिश्र ने शाबरभाष्य पर बृहती एवं लध्वी नामक दो टीकाएँ कीं, जिन पर शालिकनाथ मिश्र ने 'दीपशिखा' एवं ऋजुविमलापञ्जिका' इन दो टीकाओं की रचना की।

इनके अतिरिक्त पूर्वमीमांसा के विद्वानों में पार्थसारथि मिश्र एवं खण्डदेव की विशेष ख्याति है। पार्थसारथि मिश्र की **शास्त्र-दीपिका, न्यायरत्न-माला** तथा खण्डदेव की **मीमांसा-कौस्तुभ, भाट्टरहस्य** और **भाट्टदीपिका** की विद्वानों के बीच प्रसिद्धि है। भट्ट-मीमांसा के दार्शनिक सिद्धान्तों की **मानमेयोदय** नामक ग्रन्थ में सुन्दर एवं रुचिकर विवेचना मिलती है। लौगाक्षि भास्कर का **'अर्थसंग्रह'** जैमिनीय मीमांसा का संग्रह-ग्रन्थ है जिससे मीमांसा का आरम्भिक और प्रामाणिक परिचय होता है।

7. वेदान्त न्याय :-

वेदान्त न्याय का प्रारम्भ शंकराचार्य द्वारा हुआ। शंकर के अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र, श्री हर्ष, विद्यारण्यस्वामी, सदानन्द, मधुसूदन सरस्वती, आदि महत्वपूर्ण दार्शनिक हैं। वेदान्त में न्याय की समस्याओं पर यद्यपि आरम्भिक आचार्यो ने विशेष बल नहीं दिया, किन्तु उत्तरवर्ती आचार्यो ने न्याय की शैली को अपनाने के अतिरिक्त न्याय के विषयों पर भी चर्चा की है। न्याय की समस्याओं पर धर्मराजाध्वरीन्द्र ने अपने ग्रन्थ **'वेदान्तपरिभाषा'** में विस्तृत विवरण दिया है। वस्तुतः प्रामाण्यवाद का विवेचन तर्कशास्त्र का कार्य है। वेदान्त में तो तर्क को हेय बतलाया गया है। केवल

शास्त्रानुकूल तर्क को ही यहाँ उपादेय माना गया है। किन्तु 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र का यह अर्थ किया जाता है कि ब्रह्म ही शास्त्र का प्रमाण है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शास्त्र स्वत: ही प्रमाण है।

वास्तव में भारतीय दार्शनिकों की मोक्षशास्त्र और प्रमाणशास्त्र दोनों में समान रुचि रही है। मोक्षशास्त्र की दृष्टि से अद्वैत वेदान्त का विशेष महत्व है और प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से न्यायदशर्न का। शंकराचार्य ने 'शारीरक-भाष्य' के अतिरिक्त 'गीताभाष्य', 'उपदेश-साहस्री', तथा दस उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। उनके सबसे पहले टीकाकार उनके शिष्य पद्मपादाचार्य है जिन्होने ब्रह्मसूत्र के चतु:सूत्री भाष्य पर 'पञ्चपादिका' टीका लिखी है। शांकरभाष्य पर दूसरी प्रसिद्ध टीका वाचस्पति मिश्र (841 ई.) की 'भामती' है। अन्य टीकाओं में चित्सुखाचार्य की 'भाष्यभावप्रकाशिका' (13वीं सदी) आनन्द गिरि (15वी. सदी) का 'न्यायनिर्णय', गोविन्दानन्द (17 सदी) की 'रत्नप्रभा' और नारायण सरस्वती का 'वार्त्तिक' प्रसिद्ध है। उपटीकाओं में सबसे प्रसिद्ध प्रकाशात्मयती (12वीं सदी) का 'पञ्चपादिकाविवरण' है। भामती पर 'कल्पतरू' और उस पर 'परिमल' प्रसिद्ध टीकाएँ हैं। 'विवरण' और 'भामती' के नाम से अद्वैत के दो अलग प्रस्थान ही बन गये हैं।

शंकराचार्य के समकालीन सुरेश्वराचार्य की 'नैष्कर्म्यसिद्धि', 'बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक' और 'तैत्तिरीयवार्त्तिक' प्रसिद्ध है। विवरण पर अखण्डानन्द मुनि का 'तत्त्वदीपन' प्रसिद्ध टीका है। शंकराचार्य के निकटवर्ती लेखकों में सर्वज्ञात्ममुनि (9वीं सदी) का 'संक्षेपशारीरक' उल्लेखनीय हैं। बाद के ग्रन्थों में श्रीहर्ष (12वी सदीं) का 'खण्डनखण्डखाद्य', चित्सुखाचार्य की 'प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका', विद्यारण्य का 'विवरणप्रमेयसंग्रह' और 'पंचदशी', मुधुसूदन सरस्वती (15वी सदी) की 'अद्वैतसिद्धि', प्रकाशानन्द (15वीं सदी) की

'वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावली', सदानंद का 'वेदान्तसार', धर्मराजाध्वरीन्द्र (16वीं सदी) की 'वेदान्तपरिभाषा', मुक्तात्मन् की 'इष्टसिद्धि', तथा अप्पय दीक्षित (17वीं सदी) का 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' आदि प्रसिद्ध है।

<u>सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूचिका</u>

1. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः
2. सूत्रार्थो वण्र्यते यत्र ददैः सूत्रानुसारिभिः।
   स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्य भाष्य विदो विदुः।।
   न्याय कोश पृ.25
3. उक्तानुक्ताद्वियक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
   तं ग्रन्थं वात्तिकं प्राहुर्वात्तिकज्ञा मनीषिणः।।
   न्यायकोश टिप्पणी में पराशर पुराण से उद्धृत पृ.26
4. न्यायमञ्जरी, भूमिका, पृ.5 चौ.ई. 1925
5. मातः सरस्वति पुनः पुनरेव नत्वा
   बद्वान्जलिः किमपि विज्ञपयाभ्यवेहि।
   वाक्चेतसोर्मम् तथा भव सावधाना
   वाचस्पतेर्वचसि न स्खलतो यथैते।।
   न्या.परि. 1-1-1
6. न्यायकोश 2 उप.
7. सर्वदर्शन संग्रह औ.द.प्र.
8. न्यायकोश टिप्पणी पृष्ट सं.25
9. न्याय परिचय टिप्पणी पृष्ट सं.12
10. हिस्ट्री आफ नव्य-न्याय इन मिथिला, पृष्ट सं. 96 मिथिला, ई. 1958.
11. वही।
12. हिस्थ्री ऑफ इण्डियन लॉजिक पृं.सं. 262-264
13. वही।
14. बौद्ध न्याय- श्चेतस्की- हिन्दी अनुवाद पृ.सं.35

15. न्या. म. प्रभा. पृ. आ. 2

16. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक

17. प्रमेय-कमल-मार्तण्ड, प्रस्तावना- महेन्द्रकुमार पृ.सं.3

18. बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति 125।

द्वितीय अध्याय

ज्ञान का स्वरूप

द्वितीय अध्याय

ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान क्या है?

ज्ञान शब्द का सम्बन्ध 'ज्ञा' धातु से है जिसका अर्थ जानना या बोध है। बोध बुद्धि से ही सम्भव है, अतः ज्ञान या बोध को बुद्धि भी कहते हैं। इस ज्ञान या बोध के द्वारा हमें विषय का ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान प्राप्ति को हम उपलब्धि भी कहते है। इसीलिये न्यायशास्त्र के प्रणेता महर्षि गौतम का कहना है कि ज्ञान बुद्धि और उपलब्धि सभी समानार्थक शब्द है।[1] सांख्य दर्शन में इसमें भेद माना गया है। सांख्यदर्शन में अन्तःकरण को बुद्धि, बुद्धि के अर्थाकार परिणाम को ज्ञान और आत्मा में उस ज्ञान के प्रतिबिम्ब को उपलब्धि माना गया है। वेदान्त में अन्तःकरण को बुद्धि, बुद्धि के अर्थाकार परिणाम को वृत्तिज्ञान (गौण ज्ञान) और आत्मा को स्वरूप ज्ञान (मुख्य ज्ञान) माना गया है। ज्ञान को ही प्रतीति या प्रत्यय भी कहते हैं, क्योंकि ज्ञान के द्वारा ही परिचय प्राप्त होता है। इस विषय परिचय को ही हम संवित् भी कहते हैं। इसे ही चेतना भी कहा जाता है। इस प्रकार प्रतीति, प्रत्यय, संवित्, चेतना आदि सभी का अर्थ जानना ही है।[2]

ज्ञान विषय का प्रकाशक है। परन्तु प्रकाशक अर्थ ज्ञापक है, कारक नहीं। अर्थात् ज्ञान विषय को उत्पन्न नहीं करता वरन् पहले से उपस्थित विषय को प्रकाशित करता है। इससे स्पष्ट है कि विषय की सत्ता तो ज्ञान की पूर्व मान्यता है। यदि विषय ही नहीं है तो ज्ञान किसे प्रकाशित करेगा? इसी दृष्टि से ज्ञान को स्वविषयक कहा जाता है निर्विषयक नहीं, अर्थात् विषयहीन ज्ञान नहीं हो सकता है। ज्ञान विषय का अनुभव है। अनुभव चाहे यथार्थ हो या अयथार्थ। अतः ज्ञान का दूसरा नाम ही अनुभव है।

ज्ञान के स्वरूप के विषय में जब हम विचार करना आरम्भ करते हैं तो सबसे पहले जो हमारे मन में प्रश्न उठता है वह यह है कि हमारा ज्ञान कोई वास्तविक सत्ता है भी या केवल भ्रम है? जैसा कि हम देख चुके हैं, ज्ञान का पूर्ण निषेध करना तो सम्भव नहीं है क्योंकि निषेध में भी ज्ञान अन्तर्निहित है। हाँ यह सम्भव हो सकता है कि हम अपने सम्पूर्ण लौकिक ज्ञान को एक मिथ्या प्रतीति बता दें। इस दृष्टि से भारतीय दर्शन को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है–

(क) वे दार्शनिक जो हमारे लौकिक ज्ञान को मिथ्या प्रतीति मानते हैं और उसकी पृष्ठभूमि में एक अनन्त अज्ञेय सत्ता की कल्पना करते है। इस प्रकार के दर्शनों में अद्वैत वेदान्त और शून्यवादी बौद्ध आते हैं।

(ख) वे दार्शनिक जो लौकिक ज्ञान को सत्य मानते हैं। लौकिक ज्ञान को सत्य मानने वाले दाशर्निक सम्प्रदायों को मतभेद के आधार पर निम्नलिखित प्रकार में रख सकते है–

1. ज्ञान एक भौतिक गुण है जो भूतों के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न हुआ है। यह मत चार्वाक का है।
2. ज्ञान एक आध्यात्मिक गुण है जो भूतों से भिन्न एक अभौतिक सत्ता में आश्रित होता है। यह अभौतिक सत्ता आत्मा है। इस मत में भी कई प्रकार हमें उपलब्ध होते हैं।
   - (i) ज्ञान एक आकस्मिक और अनित्य गुण है। यह न्याय-वैशेषिक तथा प्रभाकर का मत है।
   - (ii) ज्ञान एक नित्य गुण है–यह विशिष्टाद्वैत तथा जैनदर्शन द्वारा मान्य है।
3. ज्ञान एक आध्यात्मिक क्रिया है। यह भट्ट मीमांसक मत है।

4. ज्ञान एक विषयाकार प्राकृतिक विकार है। यह सांख्य तथा योग का मत है।
5. ज्ञान एक स्वतन्त्र सत्ता है। यह विज्ञानवादी बौद्ध का मत है।

ज्ञान के स्वरूप को लेकर भारतीय दार्शनिकों में जो मतभेद है उसका विस्तार से विवचेन अधोलिखित पंक्तियों में इस प्रकार है–

ज्ञान मिथ्या प्रतीति है

अद्वैत–वेदान्त ने तीन प्रकार की सत्तायें स्वीकार की हैं– 1. पारमार्थिक सत्ता जो केवल शुद्ध ब्रह्म है, 2. व्यावहारिक सत्ता जिसमें यह विविधता की प्रतीति से युक्त सम्पूर्ण जगत् आता है, और 3. प्रतीयमान सत्ता जिसमें मिथ्या प्रतीतियाॅ तथा स्वप्न की प्रतीतियाॅ आती हैं। शंकराचार्य का किसी सत्ता को पारमार्थिक दृष्टि से सत्य मानने का मानदण्ड यह है कि उसका कभी भी बाध नहीं होना चाहिए अर्थात कभी भी ऐसी स्थिति नहीं आनी चाहिए कि वह सत्ता हमें असत्य प्रतीत होने लगे 'त्रिकालबाधित्वम् सत् लक्षणम्' उपर्युक्त तीन प्रकार की सत्ताओं में अन्तिम अर्थात प्रतीयमान सत्ता के मिथ्यात्व का ज्ञान हमें कुछ काल के बाद ही हो जाता है। उदाहरणार्थ जब हमें रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है या सीपी में चाॅदी की प्रतीति होती है, किन्तु कुछ काल के बाद ही ध्यान से देखने पर या स्वतः ही पता चल जाता है कि यहाॅ सर्प नहीं है, रस्सी है, या चाॅदी नहीं है, केवल सीपी है। इसी प्रकार स्वप्न देखते समय हम भले ही उन्हें सत्य समझते रहें किन्तु जागते ही हमें पता चल जाता कि हम जो कुछ स्वप्न में देख रहे थे वह सब एक मिथ्या प्रतीति मात्र थी। अतः सम्पूर्ण प्रतीयमान सत्ता तो मिथ्या है ही उसकी प्रतीति भी मिथ्या है। द्वितीय प्रकार की व्यावहारिक सत्ता वह है जिसका सामान्य रूप से बाध नहीं

होता और जिसे हम जीवन भर सत्य ही मानकर अपने लोक-व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से इसे सत्य माना जा सकता है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से यह भी सत्य नहीं है। सतत् साधना और गुरू द्वारा प्रदत्त ज्ञान से एक ऐसी स्थिति आती है कि हमारी लौकिक जगत की प्रतीति भी बाधित हो जाती है। हमें प्रतीत होने लगता है कि यह सम्पूर्ण जगत वास्तविक नहीं है, हमें उस जगत की पृष्ठभूमि में स्थित पारमार्थिक सत्ता का, शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान होने लगता है। यह वह स्थिति है जब हमारा सम्पूर्ण लौकिक ज्ञान एक मिथ्या प्रतीति सिद्ध हो जाता है। जब तक हमें द्वैत की प्रतीति रहती है तब तक इस व्यावहारिक ज्ञान की प्रतीति मानी जा सकती है। किन्तु जब पारमार्थिक ज्ञान के उदय होने पर द्वैत की प्रतीति समाप्त हो जाती है और शुद्ध ब्रह्म की प्रतीति उदित हो जाती है तो व्यावहारिक ज्ञान भी समाप्त हो जाता है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि अद्वैत-वेदान्त की दृष्टि से भले ही लौकिक ज्ञान मिथ्या प्रतीति हो, शुद्ध ब्रह्म की प्रतीति कराने वाला पारमार्थिक ज्ञान तो सत्य है। इसमें सन्देह नहीं है कि शुद्ध ब्रह्म की प्रतीति रूपी ज्ञान सत्य होगा। किन्तु यहाँ यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि ब्रह्म-ज्ञान हमारे लौकिक ज्ञान जैसी कोई चीज नहीं है, स्वरूप में उससे नितान्त भिन्न है। लेकिन ज्ञान में ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का भेद अवश्य बना रहता है किन्तु ब्रह्म-ज्ञान में उस प्रकार का कोई भेद नहीं है क्योंकि ब्रह्म ज्ञान होने पर ब्रह्म से भिन्न सभी कुछ समाप्त हो जाता है, यहाँ तक कि ज्ञान का साधन हमारा अन्तःकरण भी समाप्त हो जाता है। अतः ब्रह्म ज्ञान एक ऐसा ज्ञान होगा जिसमें ब्रह्म स्वयं ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय होगा। अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म-ज्ञान ब्रह्म से भिन्न नहीं कहा जा सकता जो शुद्ध सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। उस ब्रह्म को शुद्ध चैतन्य कहा गया है। किन्तु वह चेतना निर्विषयक चेतना है, उसमें कोई

विषय भासित नहीं होता। साथ-साथ उस समय आनन्द की भी अनुभूति रहती है। इस प्रकार अद्वैत-वेदान्त लौकिक ज्ञान के मिथ्यात्त्व का प्रतिपादन कर एक पारमार्थिक ज्ञान- शुद्ध चैतन्य के ज्ञान-का प्रतिपादन करता है। इसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी का विलय हो जाता है।

शंकर और उसके अनुयायियों ने तार्किक आधार पर भी लौकिक ज्ञान की सत्यता का खण्डन किया है। इस विषय में उनका मुख्य तर्क है कि हमारा व्यावहारिक ज्ञान सदैव त्रुटियुक्त होता है। अर्थात उसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद बना रहता है। जहाँ द्वैत होता है वहाँ दो के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में सदैव अनवस्था दोष आ जाता है। ज्ञाता और ज्ञान में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए हमें सम्बन्ध नामक एक तीसरी सत्ता की आवश्यकता होती है, और फिर उस सम्बन्ध के साथ ज्ञाता को सम्बद्ध करने के लिए किसी और सम्बन्ध की आवश्यकता होगी और इसी क्रम में आगे बढ़ने पर अनवस्था दोष का सामना करना पड़ेगा।

माध्यमिक बौद्धों ने भी ज्ञान में निहित तार्किक कठिनाइयों का प्रदर्शन किया है।[3] नागार्जुन पूछतें हैं कि प्रमाणों की सिद्धि किस प्रकार होती है? यदि यह कहा जाय कि प्रमाण की सिद्धि दूसरे प्रमाण से होती है तो दूसरे की सिद्धि तीसरे से मानना होगा और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। जिसके कारण आदि, मध्य और अन्त कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि वस्तुवादी कहें कि प्रमाण बिना दूसरे प्रमाणों के सिद्ध हो जाते हैं तब तो उनके मत का स्वतः खण्डन हो जाता है क्योंकि उनके मतानुसार कोई भी विषय बिना प्रमाण के नहीं जाना जा सकता है।

ज्ञान भौतिक गुण है–

चार्वाक दर्शन पंच भूतों के अतिरिक्त इस सृष्टि के उपादान के रूप में किसी और तत्त्व की कल्पना की आवश्यकता नहीं समझता। उसकी दृष्टि से चेतना के लिए भी हमें आत्मा जैसे किसी पृथक आध्यात्मिक तत्त्व की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। चेतना इन्हीं भूतों का एक गुण है। यह सत्य है कि पृथक–पृथक भूतों में यह गुण दृष्टिगोचर नहीं होता, केवल जीवित शरीरों में ही यह दृष्टिगोचर होता है, किन्तु चार भूत (पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु) ही जब शरीर के आकार में परिणत होते हैं, तो उनसे चेतना ऐसे ही उत्पन्न हो जाती है जिस प्रकार किणु आदि पदार्थ स्वतंत्र रूप से मादक न रहते हुए भी मिलकर एक विशेष स्थिति में मादकता उत्पन्न कर देते है। जब ये तत्त्व विघटित होते है तो उनका यह गुण भी स्वयं ही नष्ट हो जाता है।[4] इस प्रकार चार्वाक के अनुसार ज्ञान या चेतना भूतों से उत्पन्न एक आकस्मिक गुण है। इसका आधार शरीर है। उल्लेखनीय है कि न्याय–वैशेषिक भी चेतना को एक आकस्मिक गुण मानता है, किन्तु आधार के रूप में आत्मा की कल्पना करता है।

दर्शन जगत में चार्वाक के इस मत की व्यापक आलोचना हुई इस मत के विरोध में विभिन्न दार्शनिकों ने निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत की है–

वात्स्यायन के अनुसार केवल शरीर में दृष्टिगत होने के कारण ही चेतना को शरीर का गुण नहीं माना जा सकता। हम द्रवता और उष्णता इन दोनों गुणों को प्रायः जल में देखते हैं, जिनमें केवल द्रवता जल का गुण है, उष्णता नहीं। चेतना को रूप आदि के समान शरीर का गुण मानना सम्भव नहीं है। क्योंकि रूप आदि तो जब तक शरीर रहता है तब तक रहते हैं किन्तु चेतना का निद्रा, मुर्छा और मृत्यु के समय अभाव हो जाता है।[5]

यह भी कहना उचित नहीं है कि जिस प्रकार घट का श्याम रंग पकाने से नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार चेतना भी नष्ट हो जाती है, क्योंकि घट में श्याम रंग के नष्ट होने पर दूसरा लाल रंग उत्पन्न हो जाता है, जबकि मृत्यु के समय चेतना पूरी तरह समाप्त हो जाती है।[6]

चेतना सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होती है। अतः चेतना शरीर के समान ही शरीर के सभी अंगों में भी व्याप्त है। अंग अनेक हैं, अतः अनेक चेतनों की प्राप्ति होती है। किन्तु जैसे अनेक शरीरों में चेतना के होने पर सुख-दुखः आदि की व्यवस्था है एक शरीर के दुखी रहने पर दूसरा सुखी रह सकता है-वैसी व्यवस्था अंगो में नहीं है। अतः चेतना को शरीर का गुण नहीं माना जा सकता।[7]

शरीर में दो प्रकार के गुण होते हैं- 1. अप्रत्यक्ष जैसे गुरूत्व और 2. प्रत्यक्ष जैसे रूप आदि। किन्तु चेतना इनमें किसी में भी नहीं आती। चेतना को अप्रत्यक्ष नहीं कह सकते क्योंकि यह संवेंद्य है और इसे इन्द्रियग्राह्य कह सकते हैं, क्योंकि यह मनोग्राह्य है। अतः चेतना शरीर का गुण न होकर किसी और द्रव्य का गुण है।[8]

उद्यन[9] के अनुसार वाल्यावस्था से यौवनावस्था, वृद्धावस्था आदि में शरीर में परिवर्तन हो जाता है। यदि चैतन्य शरीर का गुण होता तो वाल्यावस्था के अनुभवों का यौवनादि अवस्थाओं मे स्मरण नहीं हो सकता था, जैसे चैत्र को मैत्र के अनुभवों का स्मरण नहीं होता। यदि चार्वाक यह कहें कि पूर्व शरीर का ज्ञान संस्कारों के एक शरीर से दूसरे शरीर में चले जाने (वासना संक्रमण) के कारण होता है, तब तो, उद्यन के अनुसार, माता के ज्ञान का स्मरण सन्तान को होना चाहिए। यदि चार्वाक यह कहें कि शरीर में संस्कारों का रक्षण इसलिए होता है कि पूर्व शरीर उपादान कारण है, तो यह कहना भी उचित नहीं होगा क्योंकि तब तो जो ज्ञान हमने हाँथ के माध्यम से प्राप्त किया है, हाँथ के अलग हो

जाने पर उसका ज्ञान नहीं होना चाहिए था, क्योंकि हाथ शरीर का उपादान कारण नहीं है।

शंकराचार्य चार्वाक से पूछते हैं- यदि आप चैतन्य की उत्पत्ति भूतों से मानते हैं तो यह बतायें कि आप चैतन्य का स्वरूप क्या मानते हैं? यदि कहा जाय कि भूत-भौतिकों का अनुभव ही चैतन्य है, तो भूत-भौतिकों के चैतन्य का विषय होने के कारण चैतन्य उनका धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि किसी का अपने ही ऊपर व्यापार सम्भव नहीं है। अग्नि, उष्ण होती हुई अपने को नहीं जलाती, न नट शिक्षित होकर अपने ही कन्धों पर चढ़ता है। इसी प्रकार चैतन्य यदि भूत-भौतिकों का धर्म है तो भूत-भौतिकों को अपना धर्म नहीं बना सकता। भूत-भौतिकों के अन्य गुण- रूप आदि भी अपने ही रूप को अथवा पररूप को अपना विषय नहीं बनाते। किन्तु चैतन्य वाह्य और आध्यात्मिक भूत-भौतिकों को अपना विषय बनाता है। अतः जिस प्रकार आप इस भूत-भौतिकों को विषय करने वाले ज्ञान (उपलब्धि) का अस्तित्त्व स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार आपको उनसे इसका भेद भी स्वीकार करना चाहिए।[10]

शंकराचार्य की पुनः युक्ति है- चैतन्य केवल इतनी बात से शरीर का धर्म नहीं हो जाता कि वह शरीर में होता है। ज्ञान प्रदीप आदि उपकरणों के होने पर होता है, नहीं होने पर नहीं होता, केवल इतनी बात से ज्ञान प्रदीप का धर्म नहीं हो जाता। इसी प्रकार ज्ञान शरीर के होने पर होता है, नहीं होने पर नहीं होता, इतने मात्र से ज्ञान शरीर का धर्म नहीं हो सकता है, किन्तु शरीर का ज्ञान की उत्पत्ति में अत्यन्त उपयोग नहीं देखा जाता क्योंकि शरीर के निश्चेष्ट होने पर भी तथा स्वप्न में भी (बिना शरीर के उपयोग के) ज्ञान की उत्पत्ति दिखलाई पड़ती है।[11]

उपर्युक्त आलोचनाओं से स्पष्ट है कि ज्ञान को भूतों का धर्म मानने में अनेकों कठिनाइयाँ है। फिर भी चार्वाक मत आधुनिक विज्ञान और भौतिकवादी दर्शन के सर्वाधिक निकट है।

ज्ञान आध्यात्मिक गुण है

यदि हम ज्ञान को भूतों का धर्म नहीं मानते तो हमारे पास दूसरा विकल्प यह है कि हम भूतों से भिन्न किसी सत्ता को मानें और ज्ञान को उस सत्ता का धर्म मानें। न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, विशिष्टाद्वैत तथा जैन दर्शनों ने ऐसा ही किया है। इन सब दर्शनों ने एक भूतों से भिन्न नित्य तत्त्व "आत्मा" को माना है और ज्ञान को आत्मा का धर्म स्वीकार किया है। किन्तु इनके मतों में पर्याप्त अन्तर प्राप्त होता है।

न्याय-वैशेषिक तथा प्रभाकर मीमांसक मत के अनुसार आत्मा एक नित्य तथा विभु द्रव्य है। स्वभावतः यह चैतन्य रहित है किन्तु इसमें चैतन्य का आधार होने की क्षमता है, जब आत्मा का मन से, मन का इन्द्रियों से और इन्द्रियों का विषयों के साथ त्रिविध सन्निकर्ष होता है तो आत्मा में ज्ञान नामक गुण उत्पन्न होता है। यह ज्ञान आत्मा का नित्य गुण नहीं है, अपितु आकस्मिक गुण है, क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व यह नहीं था और बाद में भी यह नष्ट हो सकता है।

न्याय-वैशेषिक तथा प्रभाकर की यह स्थिति चार्वाक से इस बात के समान है कि दोनों ने चेतना को एक आकस्मिक गुण माना है किन्तु इस बात से भिन्न है कि चार्वाक ने चेतना का अधिष्ठान शरीर माना है, जबकि न्याय-वैशेषिक ज्ञान का अधिष्ठान आत्मा को मानता है।

न्याय-वैशेषिक गुण को गुणी से नितान्त भिन्न पदार्थ मानता है। किन्तु अनेक दार्शनिकों को गुण-गुणी का यह नितान्त भेद पसन्द नहीं आता।

जैन दार्शनिक गुण और गुणी में पूर्ण भेद नहीं मानते। वे द्रव्य के दो प्रकार के विशेषण मानते हैं, जिन्हें वे गुण और पर्याय कहते हैं। गुण और पर्याय के अन्तर के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों में परस्पर मतभेद है। सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र, हेमचन्द्र, यशोविजय इनको वास्तव में एक मानते है। इनके अनुसार इनमें केवल नाम का भेद है। किन्तु कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामी, पूज्यपाद, विद्यानन्द आदि गुण और पर्याय में भेद मानते हैं। इनके अनुसार गुण स्वाभावी होते हैं तथा पर्याय कर्मभावी होते हैं गुण अपरिर्वतित रहते है जब कि पर्याय परिर्वतनशील होते हैं। दूसरे शब्दों में गुण द्रव्य के आन्तरिक विशेषण है जबकि पर्याय बाह्य विशेषण।[12] अकलंक तथा वादिदेव 'भेदाभेदवादी' है। इनके अनुसार गुण द्रव्य में कालविभेदपेक्षया (काल के अनुसार न बदलते हुए) स्थित होते हैं। जबकि पर्याय कालविभेदापेक्षया (काल के अनुसार न बदलते हुए)। किन्तु धर्मी अपेक्षा होने से दोनों में अभेद भी है। जैन दार्शनिक गुण का गुणी से न पूर्ण भेद मानते हें, न पूर्ण अभेद। अतः ज्ञान को जब वे जीव (आत्मा) का गुण मानते है तो उनका यह ज्ञान न तो जीव से पूर्णतः भिन्न है, न पूर्णतः अभिन्न। जो दार्शनिक गुण और पर्याय में अन्तर करते है उनके अनुसार ज्ञान गुण है, पर्याय नहीं। वे ज्ञान को जीव के साथ नित्य सम्बन्ध वाला मानते है, आकस्मिक सम्बन्ध वाला नहीं। इनके अनुसार जीव में कभी ज्ञान का अभाव नहीं होता, हाँ कर्म के आवरण के अनुसार न्यूनाधिक्य होता रहता है।

विशिष्टाद्वैत-मत बहुत कुछ जैन मत के समान है। अन्तर सम्भवतः यह है कि जैन दार्शनिक आत्मा को कोई निश्चित आकार नहीं मानते, अपने आश्रय के अनुसार आत्मा का आकार घटता-बढ़ता रहता है, जबकि रामानुज के अनुसार आत्मा अणु-रूप है। जहाँ तक ज्ञान का आत्मा के साथ सम्बन्ध है रामानुज ज्ञान

को आत्मा का स्वरूप तथा विशेषण दोनों मानते है। इस सम्बन्ध को वे सूर्य की उपमा द्वारा समझाते हैं। सूर्य स्वयं प्रकाश है किन्तु प्रकाश उसका ऐसा गुण भी है, जिससे वह अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है। सूर्य का प्रकाश स्वयं के सम्बन्ध में प्रत्यक् (आन्तरिक) है और अन्यों के सम्बन्ध में पराक् (बाहय) इसी प्रकार आत्मा ज्ञान स्वरूप भी है और ज्ञान का आश्रय भी। आत्मा स्वयं अणु-रूप होते हुए भी धर्मभूत ज्ञान की दृष्टि से विभुरूप है। जिस प्रकार सूर्य एक स्थान पर स्थित होता हुआ भी सर्वत्र प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा अणुरूप होते हुए भी अपने धर्म ज्ञान से सब कुछ प्रकाशित करती है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश जगत् में अनेक स्थलों पर दीवार, छत आदि अवरोधों के कारण नहीं पहुँच पाता, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान सब कुछ प्रकाशित करने में सक्षम होते हुए भी कर्म के कारण अवरूद्ध हो जाता है। यदि कर्मरूपी बाधाओं का पूर्ण नाश कर दिया जाय तो आत्मा के ज्ञान का प्रकाश सर्वत्र फैल सकता है। रामानुज के अनुसार धर्म कभी भी धर्मी के बिना नहीं रह सकता। ज्ञान का आत्मा से नित्य सम्बन्ध है।

ज्ञान को शरीर से भिन्न एक नित्य तत्त्व का गुण मानकर समस्याओं का सरल समाधान नहीं होता। प्रथम तो हमें एक ऐसे तत्त्व की कल्पना करनी पड़ती है जिसके कभी दर्शन नहीं होते। फिर उसका शरीर के साथ क्या सम्बन्ध है? शरीर में वह कैसे रहता है? यह एक नई समस्या खड़ी हो जाती है। ज्ञान और आत्मा का नित्य सम्बन्ध मानने का तात्पर्य होगा आत्मा को एक चेतन तत्त्व मानना। किन्तु आत्मा के चेतन होने का तात्पर्य क्या होगा? आत्मा के नित्य चैतन्य में और लौकिक ज्ञान में क्या सम्बन्ध होगा? सम्भवतः एक ही सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है कि लौकिक ज्ञान आत्मा का विकार है। किन्तु इस प्रकार आत्मा की

नित्यता भंग हो जाती है। फिर सर्वव्यापक या अणु रूप आत्मा मानने पर हम उसमें विकार की कल्पना भी कैसे कर सकते हैं? इससे तो एक ही निष्कर्ष पर पहुँचेंगें कि ये सब विकार अन्तःकरण के हैं और आत्मा पर आरोपित है, और इस प्रकार हम सांख्य और वेदान्त की ओर अग्रसर हो जायेगें।

ज्ञान आध्यात्मिक क्रिया है

कुमारिल भट्ट के अनुयायी ज्ञान को आत्मा का गुण न मान कर आत्मा की क्रिया मानते हैं उनके अनुसार ज्ञान सदैव किसी विषय का होता है, कभी निर्विषयक नहीं होता। ज्ञान आत्मा की सकर्मक क्रिया है जिसका कर्म है विषय। भट्ट मीमांसकों के अनुसार ज्ञान को गुण मानना उचित नहीं है क्योंकि गुण एक अकर्मक विश्लेषण होता है जबकि ज्ञान सदैव सकर्मक होता है। पार्थसारथि के अनुसार ज्ञान आत्मा की सकर्मक क्रिया है जो विषय में उसी प्रकार फल उत्पन्न करती है जिस प्रकार पाक क्रिया चावलों में पाकत्व-फल उत्पन्न करती है।[13] यह फल उनके अनुसार "ज्ञातता" के रूप में होता है। ज्ञान का पूर्व विषय अज्ञात होता है ज्ञान के पश्चात ज्ञात हो जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि विषय में "ज्ञातता" नामक फल उत्पन्न हो जाता है। किसी वस्तु में कोई नया गुण बिना क्रिया के उत्पन्न नहीं किया जा सकता, अतः "ज्ञातता" नामक फल को उत्पन्न करने के लिए ज्ञान को क्रिया मानना आवश्यक है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि क्रिया ता सदैव स्पन्दनात्मक होती है। आत्मा जो कि एक सर्वव्यापक अभौतिक तत्त्व है, उसमें क्रिया कैसे सम्भव होगी? कुमारिल इसका उत्तर देते हुए कहते हैं क्रिया में "गति" होना आवश्यक नहीं है, जो कुछ भी धातु के अर्थ के रूप में प्रयुक्त किया जाता है क्रिया होती है। ज्ञान शब्द "ज्ञा" धातु से आया है और धातु के अर्थ में प्रयुक्त होता है

अतः यह एक क्रिया है उसके अतिरिक्त, क्योंकि आत्मा में संकल्प शक्ति होती है, अतः वह क्रियावान है।

यहाँ यह प्रश्न भी किया तो सकता है कि सुषुप्ति, मुर्छा आदि के समय आत्मा के ज्ञान क्रिया का क्या होता है? इसके उत्तर में कुमारिल का कहना है कि आत्मा में वास्तव में ज्ञान क्रिया की शक्ति होती है जो जागृतावस्था में अभिव्यक्त होती रहती है किन्तु सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में अव्यक्त रहती है।

उल्लेखनीय है कि न्याय-वैशेषिक एवं प्रभाकर ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हैं, जबकि भट्ट मीमांसक आत्मा की क्रिया है। यदि गहराई से देखें तो उनका मतभेद शाब्दिक अधिक है तात्त्विक कम। गुण और क्रिया में वास्तव में अन्तर क्या है? दो ही अन्तर माने जा सकते हैं। 1. क्रिया में स्पन्दन होता है गुण में नहीं, 2. क्रिया अनित्य होती है, गुण द्रव्य का स्वभाव होने के कारण यावद्-द्रव्य-भावी होता है। भट्ट दार्शनिक ज्ञान रूपी क्रिया में स्पन्दन नहीं मानते। अतः प्रथम भेद समाप्त हो जाता है। न्याय-वैशेषिक ज्ञान को आकस्मिक गुण मानते हैं, अर्थात यावद्-द्रव्य-भावी नहीं मानते। अतः द्वितीय भेद भी समाप्त हो जाता है। भट्ट मीमांसकों का कहना है कि गुण अपने आप में पूर्ण होता है, क्रिया की भांति सकर्मक नहीं होता, किन्तु ऐसा कहना बहुत उचित नहीं है। हम यदि कहें कि देवदत्त "दानशील" है तो यहाँ "दानशीलता" गुण क्या बिना दान ग्राहक के कल्पित हो सकता है? वास्तव में ज्ञान न तो सामान्य गुण की भाँति है न क्रिया की भाँति। अतः गुण या क्रिया कहने से उसके स्वरूप में अन्तर नहीं पड़ता। हाँ, इतना अवश्य है कि आत्मा को क्रियाशील बनाकर भट्ट मीमांसकों ने आत्मा को "कर्ता" होने के अधिक उपयुक्त बना दिया है। न्याय-वैशेषिक की आत्मा ज्ञान-रहित होने पर निश्चेष्ट होगी, उसमें ज्ञान भी मन तथा इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न किया जायेगा, वह स्वयं

कुछ नहीं करेगी। ऐसी स्थिति में उसे "कर्ता" कैसे कहा जा सकता है भट्ट मीमांसको की आत्मा संकल्पवान होने के कारण कर्ता होने के अधिक उपयुक्त है।

ज्ञान प्राकृतिक विकार है

ज्ञान को हम चाहे आत्मा का विकार मानें, चाहे क्रिया मानें, इससे आत्मा की कुटस्थ-नित्यता खण्डित हो जायेगी और आत्मा को परिणामी मानना पड़ेगा। इस कठिनाई की ओर न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा का ध्यान नहीं गया, किन्तु सांख्य-योग एवं अद्वैत वेदान्त ने इस कठिनाई को समझा है और इसलिए उन्होंने आत्मा को लौकिक ज्ञान से पृथक ही कर दिया है। यह विकार उनके अनुसार आत्मा में उत्पन्न नहीं होता, अपितु अन्तःकरण में उत्पन्न होता है और अन्तःकरण प्रकृति का विकार है।

सांख्य के अनुसार विषय का सन्निकर्ष ज्ञानेन्द्रिय, मन तथा अहंकार के माध्यम से बुद्धि के साथ होता है और बुद्धि विषय के आकार को ग्रहण कर लेती है। किन्तु बुद्धि प्रकृति का विकार है और प्रकृति अचेतन है। अतः बुद्धि के विषयाकार धारण कर लेने मात्र को "ज्ञान" नहीं कह सकता, किसी न किसी प्रकार उसका चेतन पुरूष (आत्मा) से सम्बन्ध होना आवश्यक है। सांख्य ने बुद्धि में सत्त्व गुण की अधिकता मानी है जिसके कारण बुद्धि में पुरूष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। पुरूष के प्रतिबिम्ब के कारण अचेतन बुद्धि भी चेतनवत् प्रतीत होती है। इस चेतनवत् बुद्धि में विषयाकारता को हम सांख्य के अनुसार प्रथम ज्ञान मान सकते हैं, जिसको सांख्य प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। इससे बुद्धि में प्रतिबिम्बत् पुरूष को होने वाला बोध वाचस्पति मिश्र के अनुसार "प्रमा" है, जिसे "पौरूषेय बोध" कहा गया है।[14]

यहाँ सांख्य की ज्ञान-विषयक स्थिति स्पष्ट नहीं है। सांख्य दो स्थितियों को ज्ञान मान रहा है- एक बुद्धि के विकार को और

दूसरे पुरूष के बोध को। किन्तु ये दोनों ही स्थितियाँ अस्पष्ट हैं। बुद्धि में होने वाले विकार को ज्ञान मानने में कठिनाई यह है कि बुद्धि अपने आप में अचेतन है और अचेतन विकार को ज्ञान नहीं माना जा सकता। पुरूष के प्रतिबम्ब से यह "चेतनवत्" प्रतीत होती है, वास्तव में चेतन नहीं हो जाती। यह स्थिति ज्ञान को मिथ्या प्रतीति मानने वाले अद्वैत-वेदान्त को तो रास आ सकती है, यर्थाथवादी सांख्य को नहीं। सांख्य के "पौरूषेय बोध" को भी ज्ञान मानने में कठिनाई होगी, क्योंकि यहाँ पुरूष वास्तविक पुरूष नहीं। इस कठिनाई से बचने के लिए विज्ञानभिक्षु की मान्यता यह है कि पुरूष का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है और बुद्धि का प्रतिबिम्ब पुरूष में।[15] पुरूष के प्रतिबिम्ब से पुरूष को विषय का बोध हो जाता है। यह स्थिति पूर्व स्थिति से कुछ अच्छी है, किन्तु बहुत सन्तोषप्रद नहीं। यहाँ बुद्धि का ज्ञान वैसा ही रहता है और पुरूष में पड़े प्रतिबिम्ब को क्या हम उसका ज्ञान कह सकते है? पुरूष के वास्तविक ज्ञान को मानने के लिए हमें किसी न किसी प्रकार का विकार अवश्य स्वीकार करना होगा। चाहे वह गुण रूप हो, चाहे क्रिया रूप। कूटस्थ पुरूष का बोध मिथ्या प्रतीति के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान-प्रक्रिया के लगभग सही रहने पर भी अद्वैत-वेदान्त ने लौकिक ज्ञान को मिथ्या प्रतीति घोषित कर दिया। सांख्य यद्यपि ज्ञान को मिथ्या प्रतीति नहीं मानता, यथार्थ ही मानता है, किन्तु उसका तत्त्वदर्शन उसे मिथ्या प्रतीति की ओर ही ले जाता है। योग-मत सांख्य के समान ही है।

ज्ञान स्वतन्त्र सत्ता है

जब हम ज्ञान की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं तो इसका तात्पर्य है कि ज्ञान न तो भूतात्मक शरीर में आश्रित है, न अभौतिक आत्मा जैसी सत्ता में। बौद्ध योगाचार सम्प्रदाय इस मत का पोषक है। इसे विज्ञानवाद भी कहा जाता है क्योंकि इसकी दृष्टि से विज्ञान अर्थात्

ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता है ही नहीं। ज्ञान के स्वरूप के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इनके अनुसार किसी विषय के ज्ञान का अर्थ है ज्ञान का विषयाकार होना। विषयाकार होने का क्या अर्थ है? ज्ञान के आकार तथा विषय में या तो एकरूपता हो सकती है या भिन्नता या समानता। यदि ज्ञान और विषय में भिन्नता मानते हैं तो विषय का ज्ञान सम्भव ही नहीं है, क्योंकि तब यह कहना सम्भव ही नहीं है कि यह ज्ञान इस विषय का है। फिर यदि भिन्न प्रकारक ज्ञान से किसी एक विषय का ज्ञान हो सकता है तो सभी विषयों का ज्ञान क्यों नहीं हो सकता? यदि ज्ञान को विषय के समान माना जाता है तो प्रश्न उठता है कि यह समानता पूर्ण है या आंशिक? यदि समानता पूर्ण मानी जाती है तो ज्ञान को भी विषय की भाँति अचेतन मानना होगा। यदि समानता आंशिक मानें तो यह निश्चित करना होगा कि किस अंश में दोनों समान हैं और किस अंश में असमान, जो कर पाना सम्भव ही नहीं है, क्योंकि इसका निर्णय तभी कर पाना सम्भव है जब ज्ञान तथा विषय का हमें अलग-अलग स्वतन्त्र अनुभव हो और हम दोनों की तुलना कर सकें। ऐसा होना असम्भव है। यदि हम तीसरा विकल्प स्वीकार करें और यह मानें कि ज्ञान और विषय में पूर्ण एकरूपता है- विषय अपने वास्तविक रूप को ज्ञान में अभिव्यक्त करता है और ज्ञान तथा विषय का आकार पूर्णतः एक है तो हमें यह मानना होगा कि ज्ञान का अपना स्वरूप निराकार है तो वह विषय को कैसे प्रकाशित करेगा? यदि यह कहा जाये कि ज्ञान स्वरूपतः निराकर होने पर भी विषय के प्रभाव में आकार ग्रहण कर उसे प्रकाशित करता है तो भी यह कठिनाई हमारे सामने आयेगी- प्रथम तो ज्ञान निराकार ही है, वही निराकार ज्ञान विषय को प्रकाशित करता है। यदि यह कहा जाये कि जब तक ज्ञान निराकार है तब तक विषय

को प्रकाशित नहीं करता, विषयाकार होने पर ही प्रकाशित करता है, तब यह मानना होगा कि ज्ञान पहले साकार बनता है तब विषय को प्रकाशित करता है। तब भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि ज्ञान का साकार होना ही वास्तव में विषय को प्रकाशित करना है। अतः यदि यह कहा जाय कि विषय पहले चेतना पर अपना प्रभाव डालता है, फिर उसे अपना आकार देकर अपने को प्रकाशित करता है। तब पुनः हमें पूर्वोक्त कठिनाई का सामना करना होगा– विषय निराकार ज्ञान के प्रति ही प्रकाशित होता है जो सम्भव नहीं है। ज्ञान को निराकार तथा विषय का साकार मानने पर दोनों में मूलतः भेद हो जायेगा तथा ज्ञान विषय से बिल्कुल भिन्न होने के कारण विषय को प्रकशित नहीं कर सकेगा। पूर्ण भेद होने पर दोनों असम्बद्ध होगें और बिना सम्बद्ध हुए एक दूसरे को प्रकाशित नहीं कर सकते। यदि ज्ञान बिना सम्बद्ध हुए ही प्रकाशित करता हुआ माना जाय तो वह एक ही विषय को क्यों, सभी विषयों को प्रकाशित करेगा और इस प्रकार सर्वज्ञता –युक्त होगा। अतः हमें मानना पड़ता है कि ज्ञान किसी अन्य विषय के रूप को प्रकाशित नहीं करता अपितु अपने ही रूप को प्रकाशित करता है।

यहाँ पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि ज्ञान और विषय में कार्य–कारण सम्बन्ध है– विषय ज्ञान को उत्पन्न करता है, अतः भिन्न होते हुए भी वे परस्पर सम्बद्ध होते हैं। इस पर विज्ञानवादियों का उत्तर है कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी ज्ञान में कारण होती हैं, ज्ञान उन्हे क्यों नहीं प्रकाशित करता? यदि यह कहा जाय कि चक्षु आदि में अपने आकार को ज्ञान पर आरोपित करने की क्षमता नहीं है तो प्रश्न उठेगा कि इस बात का क्या प्रमाण है कि वाह्य विषयों में ही अपने रूप को आरोपित करने की क्षमता है, इन्द्रियों में नहीं? फिर मूल समस्या यह है कि किस

प्रकार एक अत्यन्त भिन्न वस्तु दूसरी को प्रभावित कर उसे अपने अनुरूप बना सकती है।

वाह्ययार्थवादी प्रश्न उठाता है कि यदि बिना विषय के ज्ञान उत्पन्न हो सकता है तो देश काल का नियम, सन्तान का अनियम तथा क्रिया का होना कैसे बन सकते हैं?[16]

तात्पर्य यह है कि विषयों का अनुभव हमें सदैव देश –काल से नियमित होकर होता है। हमें अपने भाई, पुत्र आदि सदैव विशेष देश में, विशेष काल में दिखाई देतें हैं। यदि विषय के बिना ही ज्ञान की उत्पत्ति होती, तो इनका ज्ञान सर्वत्र और सदैव होना चाहिए था। विषय से ज्ञान की उत्पत्ति न मानने पर सन्तान नियत भी नहीं बन सकता। जिस स्थान और समय पर किसी एक को किसी एक वस्तु की प्रतीति होती है, उस स्थान और उस समय पर उपस्थित सभी को उस वस्तु की प्रतीति होती है। यह सन्तान नियम है। यदि ज्ञान की उत्पत्ति वाह्य विषय से नहीं होती तो सभी को एक काल और एक स्थान पर एक वस्तु की प्रतीति कैसे होती? फिर, बिना विषय के ज्ञान में कोई क्रिया सम्भव नहीं है। क्या स्वप्न में देखे गए गन्धर्वनगर में निवास किया जा सकता है?

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए विज्ञानवादी कहते हैं कि बिना वाह्यार्थ को माने भी देश–काल का नियम स्वप्नवत् बन जायेगा।[17] स्वप्न में वाह्य विषयों के न होने पर भी देश–काल के नियम जागृत अवस्था के समान ही होते हैं। इसी प्रकार सन्तान का अनियम भी प्रेतवत् बन जायेगा।[18] विज्ञानवादियों के अनुसार एक वस्तु का एक साथ अनेकों द्वारा अनुभव किया जाना समान कर्म–विपाक के कारण होता है। मरने के बाद नरक में गए अनेक व्यक्ति (प्रेत) कर्म की सदृश विपाक अवस्था होने पर वस्तुतः पूयनदी (पीब की नदी) न होने पर भी पूयनदी देखते है। इसी प्रकार कर्म की सदृश विपाकावस्था होने पर पर वाह्यार्थ के अभाव

में भी वाह्यार्थो समान प्रतीति अनेकों को होती है। बिना विषय के ज्ञान में क्रिया भी स्वप्नोपघात[19] (स्वप्न-दोष) के समान सम्भव है। स्वप्न में जब स्त्री पुरूष का समागम होता है तो वास्तविक समागम न होने पर भी वास्तविक वीर्यपात- क्रिया होती है। इसी प्रकार वाह्य विषयों के असत्य होने पर भी उनमें क्रिया सम्भव है।

वसुबन्धु के अनुसार परम सत्ता "शुद्ध विज्ञप्ति" (विज्ञप्तिमात्र) है। यह अपनी शक्ति से तीन रूपों में परिणत हो जाती है। सर्वप्रथम यह "आलयविज्ञान" या "विपाक" के रूप में प्रकट होती है जिसमें सभी ज्ञान वासनायें एकत्रित है, जो सभी अनुभवों की बीज हैं। यह आलयविज्ञान दो रूपों में परिणत होता है- मनन या क्लिष्ट मनोविज्ञान और विषय विज्ञप्ति। मनन या क्लिष्ट मनोविज्ञान अहंकार रूप है और विषय-विज्ञप्ति विषय-अनुभव रूप। विषय विज्ञप्तियों का आलयविज्ञान के साथ वही सम्बन्ध है जो तरंगों का सागर से होता है। सभी विषय-विज्ञान आलयविज्ञान में सूक्ष्म संस्कार -रूप में एकत्रित होते हैं और वहाँ से उद्बुद्ध होकर विषय-ज्ञान के रूप में प्रमाणित होते हैं। कौन सा ज्ञान कब उद्बुद्ध होगा, यह मनुष्य के कर्मो पर निर्भर करता है।

विज्ञानवाद का उपर्युक्त मत मुख्यतः इस बात पर निर्भर करता है, हम जो कुछ साक्षात अनुभव करते है वह ज्ञान है न कि विषय। यद्यपि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि यह ज्ञान विषय से नहीं आता, किन्तु दुर्भाग्य से इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि यह ज्ञान विषय से आता है। फलतः ज्ञान मात्र के सत्य होने का निश्चय भले ही न हो, सम्भावना बनी रहती है।

ज्ञान स्वप्रकाश है परप्रकाश

ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है यह महत्वपूर्ण समस्या, भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रायः वाद-विवाद और मतभेद का विषय रही है। जब हम किसी पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करते है तो उस समय

उस पदार्थ के ज्ञान के साथ-साथ हमें अपने ज्ञान का भी ज्ञान होता है या नहीं? यदि होता है तो स्वतः उसी ज्ञान द्वारा हो जाता है या उसके लिए किसी और ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है? इस विषय को लेकर भारतीय दार्शनिक मुख्यतः दो खेमों में बटें हुए है- एक वे जो ज्ञान को स्वप्रकाश मानते हैं, अर्थात यह मानते है कि ज्ञान स्वयं अपने आपको प्रकाशित करता है- इसके ज्ञान के लिए किसी और ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती, दूसरे वे जो ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानते, बाद में किसी और ज्ञान द्वारा प्रकाश्य मानते हैं। ज्ञान के स्व-प्रकाशत्व के प्रबल समर्थकों में मुख्यतः शंकराचार्य, योगाचार विज्ञानवाद, पूर्वमीमांसा के प्रभाकर प्रमुख हैं, दूसरी ओर चेतना को परतः प्रकाश्य मानने वालो में मुख्यतः दो मत है- एक न्याय- वैशेषिक का, जो ज्ञान का ज्ञान एक अन्य ज्ञान द्वारा मानता है और दूसरा कुमारिल भट्ट का जो ज्ञान का बोध अनुमान द्वारा मानते है।

ज्ञान स्व-प्रकाश है

इस मत के अनुसार ज्ञान व चेतना न तो अवेद्य है न किसी अचेतन विषय की भाँति अन्य ज्ञान द्वारा वेद्य, अपितु यह स्ववेद्य या स्व-प्रत्यक्ष है। चेतना विश्व में एक ही सम्पूर्ण प्रकाशन, ज्ञान तथा प्रकाश का स्रोत है, यह अपने प्रकाश से जगत के समग्र विषयों को प्रकाशित करते हुए भी स्वयं अपने प्रकाश के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकाश से अभिव्यक्त नहीं होती। यह "स्वयं-ज्योति" और "स्वप्रकाश" है। यह दीपक या सूरज के प्रकाश की भाँति है जो स्वयं को तथा अन्य पदार्थो को एक साथ प्रकाशित करती है। यह सोचना अविवेकपूर्ण होगा कि कोई भी प्रकाश, जो कि दूसरे को प्रकाशित करता है स्वयं अप्रकाशी है और अपने स्वत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा करता है। स्वतः प्रकाशत्व का विकल्प पर प्रकाशत्व नहीं,

अपितु अप्रकाशत्व है। वह जो स्वप्रकाशी नहीं है, प्रकाशी भी नहीं है।[20]

शंकर के अनुसार ब्रह्म, जो कि नित्य चेतना का एक एकरस पुंज है, सूर्य की भाँति अपने प्रकाशन के लिए ज्ञान के किसी अन्य उपकरण पर निर्भर नहीं हो सकता। जबकि विश्व की समस्त वस्तुओं को ज्ञान तथा ज्ञेय वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है तब वैनाशिकों को छोड़कर अन्य कोई भी ज्ञान को प्रत्यक्ष करने वाले एक तृतीय ज्ञान को स्वीकार नहीं कर सकता।[22] शंकर के अनुसार ज्ञान की सीधी तथा अपरोक्ष अनुभूति होती है। एक ज्ञान को यदि दूसरे ज्ञान के द्वारा ज्ञात होना माना जायेगा, तो दूसरे ज्ञान के लिए तीसरे ज्ञान की आवश्यकता पड़ेगी और अन्ततः इसकी निष्पत्ति अनवस्था दोष में होगी। योगाचार विज्ञानवादी भी ज्ञान के परप्रकाशत्व का खण्डन अनवस्था-दोष के आधार पर करते हैं।

मीमांसा दर्शन में प्रभाकर चेतना के स्वप्रकाशत्व पर असाधारण बल देते हैं। उन्होनें ''त्रिपुटी-संवित'' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जिसके अनुसार किसी भी ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इन तीनों की अनुभूति एक साथ बनी रहती है।

सांख्य-योग दर्शन बुद्धि में होने वाले अध्यवसाय रूप ज्ञान को अचेतन मानता है अतः यदि स्वप्रकाश नहीं हो सकता। अपने आप में यह न किसी विषय को जानता है, न स्वयं को अभिव्यक्त कर सकता है। यह पुरूष (आत्मा) द्वारा ज्ञात होता है जिसका स्वरूप शुद्ध चित्त या प्रकाश है। योगसूत्र[23] बतलाता है कि चित्त स्वयं को इसलिए प्रकाशित नहीं कर सकता क्योंकि वह ज्ञान का विषय है। तत्त्ववैशारदी[24] के अनुसार स्वप्रकाशत्व चित्त पर घटित नहीं होता, पुरूष पर घटित होता है। पुरूष की स्वदीप्ति किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं करती, वह स्वप्रकाश हैं। यहाँ हम देखते हैं कि सांख्य-योग दर्शन बुद्धि में होने वाले ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानता

किन्तु पौरूषेय बोध को स्वप्रकाश स्वीकार करता है। किन्तु जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, सांख्य योग में ज्ञान के स्वरूप की स्थिति स्पष्ट नहीं है, अतः स्वप्रकाशत्व की स्थिति भी बहुत स्पष्ट नहीं है।

ज्ञान परप्रकाशक है

ज्ञान के स्वप्रकाशत्व के सिद्धान्त का न्याय- वैशेषिक द्वारा प्रबल विरोध हुआ। इनके अनुसार ज्ञान चक्षु के प्रकाश की भाँति है जिसे दूसरे विषयों को प्रकाशित करने के लिए स्वयं प्रकाशित होने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान की क्रिया में ज्ञान नहीं केवल उसके विषय का ही बोध होता है। इस तरह चेतना स्वप्रकाश नहीं, अपितु परप्रकाश है।

न्याय के अनुसार "मै घट देखता हूँ" मे 'घट ज्ञान', जो मौलिक ज्ञान है, और जिसे 'व्यवसाय' कहा गया है, द्वितीय "मै घट देखता हूँ" या मुझे घट का ज्ञान है" इस रूप में यह ज्ञान का ज्ञान है जिसे "अनुव्यवसाय" कहा गया है। प्रथम ज्ञान में वाह्य विषय हमारी इन्द्रियों के सम्पर्क में आकर आत्मा में ज्ञान उत्पन्न करता है, जबकि द्वितीय ज्ञान में हमारी अतिन्द्रिय मन का सम्बन्ध प्रथम ज्ञान के साथ होता है- दूसरे शब्दों में प्रथम ज्ञान हमारे ज्ञान का विषय बन जाता है और हमें यह ज्ञान हो जाता है कि हमें घट का ज्ञान हो गया। यहाँ प्रथम ज्ञान या व्यवसाय केवल वाह्य विषय को जानता है, स्वयं के ज्ञान से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। न्याय की मान्यता है कि ज्ञानों का स्वबोध नहीं होता, उनका बाद में 'मानस प्रत्यक्ष' होता है। नैयायिक, अद्वैत वेदान्त तथा योगाचार बौद्धों के स्वप्रकाशत्व के सिद्धान्त का भी खण्डन करता है और भट्ट मीमांसक के ज्ञान के अनुमेय होने के सिद्धान्त का भी। न्याय के स्वप्रकाशत्व के विरोध में मुख्य तर्क यह है कि आरम्भ में हमें केवल विषय का बोध होता है, ज्ञान

का बोध नहीं होता। जहाँ तक ज्ञान का ज्ञान मानने में अनवस्था दोष के प्रसंग की बात है, न्याय का कहना है कि द्वितीय ज्ञान अर्थात अनुव्यवसाय के ज्ञान के लिए किसी तीसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार वह प्रथम न सही, द्वितीय ज्ञान का स्वप्रकाशत्व स्वीकार कर लेता है।

ज्ञान अनुमेय है-

कुमारिल भट्ट भी न्यायवैशेषिक की भाँति ज्ञान के स्वप्रकाशत्व के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते, किन्तु न्याय-वैशेषिक जहाँ ज्ञान का मानस-प्रत्यक्ष मानते हैं, वहाँ कुमारिल भट्ट उसे अनुमेय मानते है। कुमारिल ज्ञान-प्रक्रिया में प्रभाकर के तीन अंगों के स्थान पर चार अंग मानते हैं- ज्ञाता, ज्ञेय, विषय-ज्ञान और ज्ञातता। कुमारिल के अनुसार जैसे पकाने की क्रिया चावल में पाकत्व पैदा कर देती है- चावल पहले बिना पका था, अब पका हुआ हो जाता है- उसी प्रकार ज्ञान-क्रिया विषय में "ज्ञातता" उत्पन्न कर देती है- विषय पहले अज्ञात था, अब ज्ञात हो जाता है। यह ज्ञातता विषय में उत्पन्न होने वाला एक नया गुण है, जो पहले नहीं था। इस ज्ञातता रूपी कार्य को देखकर हम इसके कारण के रूप में ज्ञान का अनुमान करते हैं।[25] इस प्रकार कुमारिल के अनुसार 'ज्ञान का ज्ञान' न तो स्वप्रकाशत्व पर आधारित है, न किसी दूसरे प्रत्यक्ष ज्ञान पर, अपितु अनुमान पर आधारित है।

कुमारिल की "ज्ञातता" की कल्पना का अन्य दार्शनिकों द्वारा तीव्र विरोध हुआ। श्रीधर के अनुसार ज्ञातता को मानने पर ज्ञातता के ज्ञान के लिए एक दूसरी ज्ञातता की कल्पना करनी पड़ेगी, दूसरी के लिए तीसरी और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।[26] केशव मिश्र के अनुसार ज्ञात होने का तात्पर्य यह नहीं होता कि विषय में काई नया धर्म पैदा हो जाता है अपितु केवल इतना होता है कि वह ज्ञान का विषय बन जाता है। विषय बनने में कुछ भी उत्पन्न

नहीं होता, विषय और विषयिन् (ज्ञान) का एक स्वाभाविक सम्बन्ध है। ज्ञातता मानने पर तो अतीत और अनगत विषयों का ज्ञान ही नहीं होगा, क्योंकि उनमें 'ज्ञातता' उत्पन्न ही नहीं हो सकती। जब धर्मी ही नहीं है तो धर्म कहाँ से होगा?[27] श्रीधर के अनुसार, विषय में 'ज्ञातता' की उत्पत्ति का चावल में पाकत्व के साधर्म्य पर दिया गया तर्क अनुचित है क्योंकि चावल में तो हमें अ-पकी स्थिति से पकी स्थिति में आने का अनुभव होता है, विषय में ज्ञातता का अनुभव नहीं होता।[28]

ज्ञान के भेद-

'तर्कसंग्रह' में हमें व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी ज्ञान का वर्गीकरण प्राप्त होता है। यहाँ आरम्भ में ज्ञान दो प्रकार का माना गया है:- 1. स्मृति 2. अनुभव।[29] संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति बतलाया गया है और उससे भिन्न ज्ञान को अनुभव। स्मृति-ज्ञान पूर्व- अनुभव-जनित संस्कार पर आश्रित होता है। इसके लक्षण में संस्कार के साथ "मात्र" शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है क्योंकि "प्रत्यभिज्ञा" में संस्कार के साथ-साथ प्रत्यक्षानुभव भी होता है, वह स्मृति में नहीं आता। अनुभव दो प्रकार का बताया गया है- यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ अनुभव का लक्षण है- **'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः'**[30] अर्थात किसी वस्तु को जिस जाति से यह युक्त है, उसी जाति से वह युक्त के रूप में ग्रहण किया जाना यथार्थ अनुभव है। घट घटत्व जाति से युक्त है, इसको घटत्व जाति से युक्त ही यदि हम अनुभव करते हैं तो यह यथार्थ अनुभव होगा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं जो वस्तु जैसी है उसको उसी रूप में अनुभव करना यथार्थ अनुभव है। यथार्थ अनुभव को ही **'प्रमा'** कहा गया है।[31] तर्कसंग्रह में न्यायदर्शन में स्वीकृत चार प्रमाणों के आधार पर चार प्रकार की प्रमा मानी गई है- प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द। किन्तु

यह संख्या अलग-अलग दर्शन में उसके द्वारा स्वीकृत प्रमाणों की संख्या के अनुसार बदलती रहेगी। अयथार्थ ज्ञान का लक्षण दिया गया है **'तद्भाववति तत्प्रकारकोऽयथार्थ:'**[32] अर्थात किसी वस्तु को उस जाति से युक्त अनुभव करना जिस जाति से युक्त वह नहीं है अयथार्थ अनुभव है। दूसरे शब्दों में किसी वस्तु को जो वह है वही न समझ कर कुछ और समझ लेना, जैसे सीपी को देखकर यह प्रतीति की यह चाँदी है, अयथार्थ ज्ञान है। अयथार्थ ज्ञान तीन प्रकार का माना गया है। 1. संशय 2. विपर्यय (भ्रम) 3. तर्क।[33] संशय का लक्षण है- **'एकस्मिन्धर्मिणि विरूद्धनानाधर्मावगाहि ज्ञानं संशय:'** [34] अर्थात एक ही धर्मी में जो विरूद्ध नाना प्रकार के धर्मो का बोध होता है उसे संशय कहते है। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु को देखकर जब हम निश्चय न कर पायें कि यह क्या है और उसमें कई प्रकार की वस्तुओं की सम्भावना करें तो यह संशय होता है। इसका उदाहरण है- **'स्थाणुर्वा पुरूषों वा'** यदि स्थाणु (शाखाविहीन वृक्ष) है या पुरूष है'' हम अंधेरे में देर से किसी मनुष्य जैसे पदार्थ को देखें और यह निश्चय कर पायें कि यह स्थाणु है या पुरूष है तो यह ज्ञान संशय कहलायेगा।

विपर्यय का लक्षण दिया गया है- **'मिथ्याज्ञानं विपर्यय:'** [35] मिथ्या ज्ञान विपर्यय या भ्रम है। इस ज्ञान के विषय के प्रति संदेह की स्थिति नहीं होती। यह ज्ञान निश्यात्मक होता है, किन्तु यह निश्चय मिथ्यात्मक होता है, अर्थात् हम वस्तु को कुछ और समझ लेते हैं। उदारणार्थ यदि हम सीपी को देखकर उसे चाँदी समझ ले तो यह विपर्यय होगा।

तर्क का लक्षण दिया गया है- **'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्क:'**[36] अर्थात व्याप्य के आरोप से व्यापक का अरोप तर्क है। मान लीजिए हम किसी के साथ बाहर गए और हमने पर्वत में उठता हुआ धुआँ देखा। अब यदि हम कहते हैं कि पर्वत

में अग्नि है, किन्तु हमारा साथी इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं होता तो उसे विश्वास दिलाने के लिए हम तर्क का प्रयोग करते हैं। हम उससे कहते है कि चलो मान लिया कि पर्वत में अग्नि नहीं है। किन्तु अग्नि नहीं तो धुआँ भी नहीं होगा (यदि वहि्नर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यात्)। किन्तु धुआँ वह प्रत्यक्ष देख रहा है। अतः कहेगा कि धुआॅ तो है। इस पर हम कहेगें कि यदि धुआॅ है तो अग्नि भी अवश्य है। इस प्रकार हम उसे अग्नि के होने का विश्वास दिला सकते हैं। यहाँ यह वाक्य कि 'यदि अग्नि नहीं है तो धुआँ भी नहीं होगा' तर्क कहलाता है, यहाँ अग्नि का अभाव व्याप्य है और धुएँ का अभाव व्यापक है। हमने व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप किया है। यहाँ वास्तव में न व्याप्य अग्नि का न होना सत्य है न व्यापक धुएँ का न होना। अतः सम्पूर्ण तर्क एक मिथ्या ज्ञान है। किन्तु मिथ्या ज्ञान होते हुए भी तर्क यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होता है।

स्मृति भी दो प्रकार की मानी गई है– यथार्थ और अयथार्थ। प्रमा से उत्पन्न स्मृति यथार्थ है, अप्रभा से उत्पन्न स्मृति अयथार्थ।[37]

"प्रत्यभिज्ञा" नामक एक और ज्ञान की चर्चा हमें प्रायः दर्शन ग्रन्थों में प्राप्त होती है जिसमें प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों का योग पाया जाता है। प्रत्यभिज्ञा का लक्षण दिया गया है– 'तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा'[38]– अर्थात 'तत्ता' और 'इदन्ता' का अवगाहन करने वाली प्रतीति को प्रतिभिज्ञा कहते हैं। यहाँ तत्ता का अर्थ है तद् अर्थात तद्देश और तत्काल (पूर्वदेश और पूर्व काल) से सम्बद्ध रूप और "इन्दता" को अर्थ है–एतद्देश और एतत्काल से सम्बद्ध वस्तु का रूप। तात्पर्य यह है कि जहाँ पूर्व देश व पूर्वकाल तथा वर्तमान देश व वर्तमान काल से सम्बद्ध वस्तु की प्रतीति हो वहाँ प्रत्यभिज्ञा होगी। उदाहरणार्थ– सोऽयं देवदत्तः– यह वही देवदत्त है। मान लीजिए देवदत्त को हमने पहले कहीं और

देखा है और अब हम उसे यहाँ देख रहे हैं। ऐसी स्थिति में हमें देवदत्त में पूर्वदेश तथा पूर्वकाल से सम्बद्ध होने की भी प्रतीति है और इस देश तथा इस काल से सम्बद्ध होन का भी। अतः इस प्रतीति को हम 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। 'प्रत्यभिज्ञा' को प्रायः प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही मान लिया जाता है।

संन्दर्भ-ग्रन्थ-सूचिक (ज्ञान)

1. बुद्धि रूपलब्धिज्ञानमिति अर्न्थान्तरम्

न्यायसूत्र- 1-1-24

2 'चेतनाबुद्धिः ज्ञानं संविदित्यनर्थान्तरमिति लौकिकाः बुध्यन्ते'

सुचरितमिश्र,काशिल भाग-2 पृ0-106

3 देखिए नागार्जुनः विग्रहव्यावर्तनी, 31-50

4 तेभ्य एव देहकार परिणतेभ्यः किण्वादिभ्यो यदशक्तिवच्चैततन्यमुणजायते। तेषु विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनष्यति।

सर्वदर्शन संग्रह,चार्वाकदर्शन,तत्वमीमांसा

5 न्यायसूत्र 2,46,47 पर न्यायभाष्य, वार्त्तिक तथा तात्पर्य टीका

6 वही पृ0 48

7 वही पृ0 50

8 वही पृ0 53

9 न्यायकुसुमाञ्लि, 1,15

10 वेदान्त सूत्र 3,54,पर शांकरभाष्य

11 न्यायसूत्र 1,1,1, तर्कभाषा पृ0 53

12 प्रवचनसार, अध्याय-2।

13 शास्त्रदीपिका, पृ0 56

14 सांख्यकारिका, 5 पर सांख्यतत्त्व कौमुदी

15 योगवार्त्तिक 1,4, तथा 3,15

16 वसुबन्धुः विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, विंशतिका,2

17 वही

18 वही

19 वही-4

20 डा0 श्री कृष्ण सक्सेना भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप पृ062-63

21 गौड़पादकारिका 3,33 ,पर शांकरभाष्य

22 प्रश्नोषनिषद,6 ,2 पर शांकरभाष्य

23 योगसूत्रः महर्षि पतंजलि 4,19

24 योगसूत्र पर तत्त्ववैशारदी।

25 'ज्ञातत्तानुयेयं ज्ञानम'- शास्त्रदीपिका,

पार्थसारथि मिश्र, पृ0157-161

26 न्यायकन्दली (प्रशस्तपादाभाष्य),वाराणसी पृ0-233

27 तर्कभाषा (मुसलगाँवकर) पृ0 239

28 न्यायकन्दली, पृ0 233

29 तर्कसंग्रह (Bodas) Taxt पृ0 21

30 वही, पृ0 23

31 तर्कभाषा (मुसलगाँवकर) पृ0-14

32 तर्कसंग्रह पृ0- 23

33 वही, पृ0-56

34 वही, पृ0 56

35 वही, पृ0 56

36 वही, पृ0 56

37 वही, पृ0 57

38 तर्कभाषा, पृ0 17

तृतीय अध्याय

प्रमा का स्वरूप

तृतीय अध्याय

प्रमा का स्वरूप

प्रमा का लक्षण

प्रत्येक भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय प्रमा के अस्तित्व को स्वीकार किया है। प्रमा का अर्थ है- 'सत्य ज्ञान'। प्रमा की विशेषता है कि इसका विषय सत् है, यथार्थ है। प्रमा किसी वस्तु के असंदिग्ध तथा यथार्थ अनुभव को कहते हैं। भारतीय दर्शन में प्रयुक्त प्रमा शब्द का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'Knowledge' है। 'Knowledge' शब्द का अर्थ साधारणतः ज्ञान माना जाता है। किन्तु पाश्चात्य दर्शन में इसका बहुत ही विशिष्ट अर्थ में प्रयोग हुआ है। जिस ज्ञान के लिए 'Knowledge' शब्द का प्रयोग करते हैं, वह निश्चय ही वैध (Valid) ज्ञान या प्रमा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय ज्ञानमीमांसा में ज्ञान शब्द का पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा पद 'Knowledge' की तुलना में अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है। पाश्चात्य दर्शन में प्रयुक्त 'Knowledge' शब्द केवल यथार्थ ज्ञान का वाचक है। जी.ई.मूर ने ज्ञान की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए 'Knowledge proper' शब्द का प्रयोग किया है।[1] पाश्चात्य ज्ञानमीमांसीय अवधारणा से भिन्न भारतीय ज्ञानमीमांसीय चिन्तन में ज्ञान के अन्तर्गत यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार के ज्ञान सम्मिलित हैं। इसमें यथार्थ ज्ञान "प्रमा" तथा अयथार्थ ज्ञान को 'अप्रमा' कहलाता है। पाश्चात्य दर्शन की उपयुक्त ज्ञान की अवधारणा भारतीय ज्ञानमीमांसीय पद 'प्रमा' के समान है।

"प्रमा" शब्द का प्रयोग, ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में केवल "ज्ञान" के पर्यायवाची रूप में ही होता था। वात्स्यायन ने प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय ओर प्रमिति शब्दों की व्याख्या करते हुए प्रमिति को "अर्थ का विज्ञान" कहा है।[2] कुमारिल ने स्वतः प्रामाण्य को प्रतिपादित करते हुए प्रामाण्य को बोधात्मकत्व रूप में परिभाषित

किया है।[3] प्रभाकर के अनुयायी रामनुजाचार्य ने तीन प्रकार के प्रामाण्य या प्रमात्व को बतलाया है जिसमें प्रथम अर्थ में प्रत्येक ज्ञान जिसमें स्मृति भी निहित है, प्रमा है।[4] किन्तु बाद के सम्पूर्ण साहित्य में ''प्रमा'' शब्द का प्रयोग यथार्थ ज्ञान के लिये हुआ हे और इसी अर्थ में ग्रहण कर हम इस समय इस पर विचार कर रहे हैं।

सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक साहित्य में प्रमा विषय का जो विवेचन हुआ है उसमें प्रमा की विशेषताओं के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है, विभिन दर्शनों में पृथक-पृथक विशेषताओं पर अधिक जोर देकर पृथक-पृथक लक्षणों को प्रस्तुत किया गया है। सामान्यतः एक विश्वसनीय ज्ञान या प्रमा में जो विशेषताएँ मानी गई हैं वे निम्न हैं :-

1. यह ज्ञान अर्थ (विषय) के अनुरूप होना चाहिये।
2. यह ज्ञान स्मृति रूप में पूर्वतः प्राप्त नहीं होना चाहिये।
3. यह ज्ञान निश्चयात्मक होना चाहिये।
4. इस ज्ञान का किसी अन्य ज्ञान द्वारा बाध नहीं होना चाहिये।
5. हमें यह पता होना चाहिये कि हमारे ज्ञान के कारण (इन्द्रिय आदि) दोषरहित हैं।
6. यह ज्ञान अर्थक्रियाकारी होना चाहिये।

संक्षेप में इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए विभिन्न दर्शनों के प्रमा-सम्बन्धी स्वरूपों पर विचार करेगें।

अर्थानुरूपता :-

प्रमा की प्रथम विशेषता ही उसकी सर्वप्रमुख विशेषता है। ज्ञान के विश्वसनीय होने के लिये यह आवश्यक है कि वह ''यथार्थ'' हो अर्थात् जैसा अर्थ (विषय) है वैसा ही हो। न्याय में दिये गये प्रमा के लक्षण प्रायः इस विशेषता पर ही बल देते हैं। **यथार्थानुभवः प्रमा**[5]- यथार्थ अनुभव प्रमा है, या **''तद्वति**

तत्प्रकारकोऽनुभवः''[6]– विषय जिस प्रकार का है उसको उसी प्रकार वाला अनुभव करना–इसी विशेषता पर बल देते हैं।

इस बात से शायद सभी सहमत होंगे कि यदि हमें विषय का वैसा ही ज्ञान हो जाये जैसा वह है तो हमारी समस्या का पूर्णतः नहीं तो अधिकांशतः समाधान अवश्य हो जायेगा। किन्तु जो सबसे बड़ी समस्या हमारे सम्मुख आती है वह यह है कि जब हमें किसी विषय का ज्ञान होता है तो हम कैसे निश्चय करेगें कि यह ज्ञान विषय का ठीक ज्ञान है कि नहीं। हम जानते हैं कि व्यवहार में अनेक बार हमें ऐसे भी ज्ञान होते हैं जिन्हें हम मिथ्या कहते हैं– जो विषय को सही रूप में प्रस्तुत नहीं करते। उन ज्ञानों से यथार्थ ज्ञान को कैसे अलग किया जाये? किसी वस्तु का उचित लक्षण वही है जिसके आधार पर हम उसे पहचान सकें, उसे अन्य से पृथक कर सकें। न्याय के इस लक्षण के आधार पर क्या हम विविध ज्ञानों में ''प्रमा'' रूप ज्ञान को पहचान सकते हैं?

''यथार्थ'' होने का अर्थ है जैसा विषय है वैसा होना। हम यहाँ यह मान कर चल रहे हैं कि विषय और ज्ञान दो अलग–अलग वस्तु हैं। यथार्थ में जो स्वरूप विषय का है, वही ज्ञान का विषय है। किन्तु हमारी कठिनाई यह है कि हम कभी भी विषय और ज्ञान की तुलना नहीं कर सकते क्योंकि हम कभी भी विषय को ज्ञान से अलग नहीं देखते। तुलना उन दो वस्तुओं की हो सकती है जिनको हम अलग–अलग देख सकें। ज्ञान और विषय में यह सम्भव नहीं है। हम सदैव ज्ञान का ही अपरोक्ष अनुभव करते हैं, विषय का नहीं। फिर यह कैसे निर्णय लिया जा सकता है कि हमारा ज्ञान विषय का संवादी (अनुरूप) है। या अविसंवादी (अननुरूप) जब तक हम ज्ञान को विषय का संवादी अनुभव नहीं कर सकते तब तक उसे यथार्थ भी नहीं कह सकते। अतः न्याय का लक्षण सैद्धान्तिक दृष्टि से ठीक होते हुए भी उपयोगिता की

दृष्टि से असमीचीन है। ज्ञान की यथार्थता के निर्णय के लिये हमें ज्ञान की कुछ अन्य विशेषताओं पर निर्भर करना पड़ेगा, जिनके आधार पर हम यह निर्णय ले सकें कि हमारा ज्ञान विषय को ठीक प्रदर्शित करता है। किन्तु यदि हमें यथार्थता के निर्णय के लिये ज्ञान की कुछ और विशेषता पर निर्भर रहना पड़ता है तो क्यों न हम उन्हीं विशेषताओं को प्रमा के लक्षण के रूप में ग्रहण करें?

यहाँ न्याय के लक्षण के पक्ष में हम यह कह सकते हैं कि विषयों का अनुभव हमें साक्षात् होता है परोक्ष नहीं। हमारा अनुभव यही है कि हम सीधे विषयों को ग्रहण करते हैं- ऐसा नहीं है कि पहले ज्ञान को ग्रहण करें और उसके माध्यम से विषय को। किन्तु प्रथम तो, कोई भी दर्शन विषय का अपरोक्ष ग्रहण नहीं मानता है- और दूसरे यदि हम यह माने कि हम सीधे विषय को ग्रहण करते हैं तब तो हमें यह मानना पड़ेगा कि हमारा प्रत्येक ज्ञान प्रमा है, अप्रमा को मानने का औचित्य ही नहीं होगा। किन्तु हम सभी न केवल अप्रमा को मानते हैं, उसका अनुभव भी करते हैं।

स्मृति-रहितता तथा अनधिगतता :

न्याय द्वारा प्रदत्त लक्षण में एक बात और विचारणीय है। न्याय ने 'अनुभव' को प्रमा माना है, ज्ञान को नहीं। ज्ञान में "स्मृति" भी आ जाती है और अनुभव को 'स्मृति' से भिन्न माना गया है।[7] न्याय को यह अभिप्रेत नहीं है कि वह स्मृति को, चाहे वह यथार्थ ही हो, प्रमा मानें। किन्तु ऐसा क्यों? इसका उत्तर खोजने के लिये हमें स्मृति के स्वरूप पर विचार करना होगा।

स्मृति का लक्षण दिया गया है- **"ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः"**[8] - ज्ञात विषय को अपना विषय बनाने वाला ज्ञान स्मृति है, अथवा **"संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः"**[9] -केवल संस्कार से उत्पन्न हुआ ज्ञान स्मृति है। तात्पर्य यह है कि हमने किसी विषय का अनुभव पहले किया और उसका संस्कार हमारी आत्मा पर अंकित हो गया

अब यदि हमें पुनः किसी ऐसे विषय का ज्ञान होता है जिसका सम्पर्क हमारी इन्द्रियों से नहीं है, जिसका ज्ञान केवल हमारे पूर्व संस्कार से उत्पन्न हुआ है, तो उस ज्ञान को हम "स्मृति" कहेगें। स्मृति भी दो प्रकार की मानी गयी है - यथार्थ और अयथार्थ। जो स्मृति प्रमा से उत्पन्न है वह यथार्थ है और जो अप्रमा से उत्पन्न है वह अयथार्थ है।[10] यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि स्मृति के यथार्थ होने का मानदण्ड जो कुछ हमने अनुभव किया था उसका यथातथ्य स्मरण नहीं है अपितु हमारे पूर्व अनुभव का यथार्थ या अयथार्थ होना है। यह सम्भव हो सकता है कि हम अपने पूर्व अनुभव को पूरी तरह से ठीक-ठीक स्मरण कर रहे हों और फिर भी हमारी स्मृति अयथार्थ हो। मान लीजिये हमने आगरा में राम को देखा किन्तु वहाँ उसे हम राम न समझ कर श्याम समझ बैठे। अब हम यदि उसका श्याम के रूप में ठीक-ठीक स्मरण कर रहे हैं तो भी हमारी स्मृति अयथार्थ ही कही जायेगी कारण यह है कि यहाँ हम अपनी स्मृति द्वारा जिस विषय को ग्रहण कर रहें हैं वह वह विषय नहीं है जो वास्तव में वहाँ था। अतः हमारी स्मृति अयथार्थ अर्थात (विषय) के अननुरूप है। यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि हमारी स्मृति यथार्थ अनुभव पर आश्रित है और इसलिये यथार्थ है तो उसे प्रमा मानने में क्या हानि है? इसका कारण सम्भवतः यह है कि अनुभव का प्रमाण्यीकरण सम्भव है, स्मृति का नहीं। जैसा कि अनुभव की अबाधिता तथा प्रवृत्ति-साफल्य रूपी मान-दण्डों से यह निर्णय ले सकते हैं कि हमारा अनुभव प्रामाणिक है अथवा नहीं, किन्तु स्मृति की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये हमारे पास ऐसा कोई मानदण्ड नहीं है। फलतः स्मृति ज्ञान पर हम कभी भी पूरी तरह विश्वास नहीं कर सकते। अतः उसे प्रमा से बाहर रखना ही श्रेयस्कर है। स्मृति को प्रमा न मानने का एक दूसरा कारण यह भी प्रतीत होता है

कि "प्रमा" में यह भावना भी निहित है कि हमें किसी नई बात का ज्ञान हो। जो बात हम पहले ही जान चुके हैं उसी को अब पुनः जानते हैं तो इस नये ज्ञान की हमारे लिये कोई उपयोगिता नहीं है। स्मृति ज्ञात विषय का ज्ञान है और उसमें कोई नवीनता नहीं होती। फलतः उसको सभी दार्शनिकों ने प्रमा के क्षेत्र से बाहर ही रखा है। स्मृति-रहितता तथा नवीनता पर भट्ट मीमांसकों तथा बौद्ध नैयायिको ने इतना बल दिया है कि प्रमाण का लक्षण इसी आधार निश्चित किया है।इनके अनुसार प्रमाण[11] का लक्षण है - अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणम्[12] अप्राप्त अर्थ को प्राप्त कराने वाला प्रमाण है, अथवा, "प्रमा चाज्ञाततत्त्वार्थज्ञानम्"[13] ऐसे विषय का ज्ञान जिसका तत्वार्थ (पहले) जाना गया है। तात्पर्य यह है कि उस ज्ञान को हम प्रमाण कहेगें जो हमें ऐसे विषय को बोध कराये जिसका ज्ञान हमें पहले नहीं हुआ है। प्रभाकर के भाष्यकार शालिकनाथ ने स्मृति से भिन्न अनुभूति को प्रमा कहा है और अनुभूति को स्मृति से भिन्न माना है।[14] नैयायिकों ने इस बात से सहमत होते हुए भी कि प्रमा में स्मृति को ग्रहण नहीं किया जाना चाहिये, बौद्धों तथा भट्टमीमांसकों के अनधिगतार्थगन्तृ रूप प्रमाण के लक्षण का खण्डन किया है। अनधिगतार्थगन्तृता में कठिनाई यह प्रस्तुत की गयी है कि इस लक्षण को स्वीकार करने पर हमें धारावाहिक ज्ञान को भी अप्रामाणिक मानना पड़ेगा। जब हम पहली बार घट को देखते हैं तो उसका ज्ञान अप्राप्त विषय को प्राप्त कराता है किन्तु जब हम उसे लगातार देखते हैं और हमें प्रत्येक क्षण में "यह घट है," "यह घट है" इस प्रकार की प्रतीति होती है तो दूसरे क्षण में तथा उसके बाद के क्षणों में होने वाला ज्ञान अप्राप्त को प्राप्त नहीं कराता, अपितु प्राप्त को ही प्राप्त कराता है। यदि अनधिगतार्थगन्तृ रूप लक्षण को स्वीकार किया जाये तो इस सम्पूर्ण ज्ञान को अप्रामाणिक स्वीकार करना होगा।[15] धारावाहिक ज्ञान को कोई भी

दार्शनिक अप्रामाणिक स्वीकार नहीं करता। भट्टमीमांसक इस समस्या का समाधान यह कह कर प्रस्तुत करते हैं कि प्रत्येक क्षण का ज्ञान कुछ नवीनता लिये हुए होता है- पहले क्षण का ज्ञान प्रथम क्षण विशिष्ट होता है, दूसरे क्षण का ज्ञान द्वितीय है। पहले क्षण का ज्ञान प्रथम क्षण विशिष्ट होता है, दूसरे क्षण का ज्ञान द्वितीय क्षण-विशिष्ट होता है और इस प्रकार प्रत्येक क्षण का ज्ञान अपने क्षण से विशिष्ट होने के कारण नवीन होता है।''[16] बौद्धों की दृष्टि से वस्तु के क्षणिक होने के कारण दूसरे क्षण का ज्ञान नई वस्तु का ही होता है। किन्तु न्याय इस युक्ति को स्वीकार करने को तैयार नहीं है। न्याय के अनुसार क्षण इतना छोटा काल है कि उसको प्रत्यक्षतः ग्रहण करना सम्भव नहीं है[17] और इस प्रकार प्रत्येक क्षण-विशिष्ट - घट का पृथक ज्ञान सम्भव नहीं है। भट्टों का मत है कि काल सूक्ष्म होते हुए भी हमारे प्रयक्ष ज्ञान का विषय होता है, अतः उनके मत में धारावाहिक ज्ञान को प्रामाणिक मानने में कोई कठिनाई नहीं है। प्रभाकर के टीकाकार शालिकनाथ धारावाहिक ज्ञान को इसलिये प्रमा रूप मानते हैं क्योंकि इसमें विषयों का इन्द्रियों से निरन्तर सम्पर्क होता रहता है।[18] प्रत्याभिज्ञा को भी वे इसी आधार पर प्रमा मानते हैं क्योंकि प्रत्याभिज्ञा भी पूर्णरूपेण स्मृति पर आधारित नहीं है, उसमें भी इन्द्रियों का विषय से सन्निकर्ष होता है।

निश्चयात्मकता:

सभी दार्शनिक इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रमा का स्वरूप निश्चयात्मक होता है। जयन्त असन्दिग्ध और अव्यभिचारी अर्थोपलब्धि के रूप में प्रमा को स्वीकार करते हैं।[19] 'असंदिग्ध का स्पष्ट अर्थ है -सन्देह-रहित ज्ञान में किसी प्रकार की संशयात्मकता नहीं होनी चाहिये। ''यथार्थानुभवः प्रमा''- इस परिभाषा में भी ''यथार्थ'' शब्द के द्वारा अयथार्थ अर्थात् संशय, विपर्यय और तर्क

ज्ञानों का निरास माना गया है।''[20] कुमारिल ने उस ज्ञान को प्रमाणिक माना है जो दृढ़ हो तथा दूसरे ज्ञान से बाधित न होता हो।''[21] इनके व्याख्याकार उम्बेक के अनुसार यहाँ ''दृढ़'' पद संशय को प्रमा से अलग करता है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि निश्चयात्मकता भी दो प्रकार की हो सकती है: प्रथम, इस विश्वास के रूप में कि जो कुछ हम अनुभव कर रहे हैं वह सही है। इस प्रकार की निश्चयात्मकता न केवल प्रमा में अपितु विपर्यय अर्थात् भ्रम में भी होती है। दूसरे प्रकार की निश्चयात्मकता तार्किक हो सकती है – हम तार्किक दृष्टि से यह कह सकें कि हमारा ज्ञान यथार्थ ही होगा। इस प्रकार की निश्चितता प्रमाण्यवाद का विषय है जिस पर पृथक लेख में विचार किया जायेगा। कारणों की दोष–रहितता, अबाधिता, आदि भी तार्किक निश्चितता पर पहुँचने में सहायक होते हैं। स्पष्टतः प्रमा में दोनों प्रकार की निश्चयात्मकता होनी चाहिये।

अबाधिता:

अनेक बार ऐसा होता है कि हमें किसी वस्तु का जब ज्ञान होता है तो हमें यह निश्चय भी होता है कि हमें उसी वस्तु का ज्ञान हुआ है, किन्तु कुछ काल बाद हमें पता लगता है कि हमारा ज्ञान मिथ्या था। उदाहरण के रूप में हम रस्सी और सर्प के प्रसिद्ध उदाहरण को ले सकते हैं। हम कभी–कभी रस्सी को सर्प समझ लेते हैं, किन्तु कुछ काल बाद हमें पता चल जाता है कि यह सर्प नहीं, रस्सी है। यहाँ हमारा प्रथम ज्ञान अर्थात सर्प का ज्ञान विपर्यय या भ्रम है। इसे हम प्रमा नहीं कह सकते । इसकी अयथार्थता का पता हमें द्वितीय ज्ञान अर्थात् रस्सी के ज्ञान से चलता है। यहाँ हम कहते हैं कि सर्प का ज्ञान रस्सी के ज्ञान से बाधित हो गया। प्रमा के लिये यह आवश्यक है कि वह किसी दूसरे ज्ञान द्वारा बाधित न

हो क्योंकि यदि वह बाधित हो जाती है तो अप्रमा (विपर्यय) सिद्ध हो जाती है।

सभी दार्शनिक यह मानते हैं कि वही ज्ञान प्रमा हो सकता है जो विपर्यय से भिन्न हो अर्थात् जो बाधित न हो। जयन्त ने इस भाव को "अव्यभिचार"[22] कह कर, तर्कभाषा ने यथार्थ[23] कह कर, भाट्टों ने बाधकज्ञान-रहित[24] कह कर और अद्वैतवेदान्ती धर्मराजध्वरीन्द्र ने "अबाधितता"[25] कह कर व्यक्त किया है।

"अबाधितता" का अर्थ है बाधित न होना। बाधित होने का तात्पर्य है किसी ज्ञान का किसी अन्य परवर्ती ज्ञान द्वारा खंडित हो जाना। यहाँ प्रश्न उठता है कि यह बाध कैसे होता है? मान लीजिये हमने किसी वस्तु को देखा। अब यदि हम उस वस्तु को पुनः देखते हैं और उसके स्थान पर किसी और वस्तु को प्राप्त करते हैं तो हम कहते हैं कि हमारा पूर्व ज्ञान मिथ्या था। यही पूर्व ज्ञान का मिथ्या सिद्ध होना उस ज्ञानका बाध होना कहलता है। किन्तु इस बाध होने की प्रक्रिया में काफी समस्याएँ हैं। बाध के लिये यह आवश्यक है कि हमारा द्वितीय ज्ञान उसी वस्तु के विषय में हो जिसको हमने पहले ग्रहण किया था। मान लीजिये हमने देखा कमरे में सर्प है। कुछ समय बाद देखा कि कमरे में रस्सी पड़ी है, सर्प नहीं है। हमारे प्रथम ज्ञान और द्वितीय ज्ञान के अन्तराल में यह भी सम्भव हो सकता है कि कमरे में जो सर्प था वह चला गया हो और वहाँ कोई रस्सी भी पड़ी हो जो हमारे पहले न देखी हो, दूसरी बार देखी हो। ऐसी स्थिति में हमारा पूर्व ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता और न द्वितीय ज्ञान द्वारा उसका बाध कहलाएगा। इसी प्रकार मान लीजिये हम एक गाय देखते हैं। कुछ समय बाद देखते हैं कि वहाँ गाय नहीं भैंस है। यहाँ बाध मानेगें या नहीं? यह भी तो सम्भव हो सकता है कि प्रथम और द्वितीय ज्ञान के बीच में गाय चली गयी हो और भैंस वहाँ आकर खड़ी

हो गयी हो। इसी प्रकार मान लीजिए हम एक बरतन में दूध देखते हैं। घण्टे भर बाद जाकर देखते हैं कि उस बरतन में दूध नहीं दही है। यहाँ पर यह सम्भव हो सकता है कि पहले जो दूध हमने देखा था वह दही के रूप में परिणित हो गया हो। ऐसी परिस्थितियों में ये सारे उदाहरण बाध के नहीं माने जा सकते। बाध के लिये (1) हमें निश्चय करना पड़ेगा कि हमारे पूर्व ज्ञान का और उत्तर ज्ञान का वास्तविक विषय एक ही है, (2) हमें यह भी देखना पड़ेगा कि पूर्व विषय कहीं उत्तर विषय में परिणत: तो नहीं हो गया है। इस प्रकार यदि द्वितीय ज्ञान की भिन्नता की व्याख्या हम सन्तोषप्रद ढंग से कर कहते हैं तो पूर्व ज्ञानका बाध नहीं माना जायेगा, पूर्व ज्ञानको हम प्रमा ही मान सकते हैं।

अबाधितता के विषय में एक प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि जहाँ तक वाह्यार्थवाद की बात है, अबाधितता की बात ठीक है, क्योंकि यहाँ वाह्यार्थ के विषय में भ्रम हो सकता है और फिर उसका निवारण हो सकता है। किन्तु विज्ञानवाद में भी क्या अबाधितता की बात की जा सकती है? विज्ञानवाद में तो वाह्य विषय होता ही नहीं, फिर तद्विषयक ज्ञानके बाध होने का प्रश्न कैसे उठेगा? इसका उत्तर यह है कि विज्ञानवाद में भी अबाधितता का सिद्धान्त उसी प्रकार स्वीकार किया जा सकता है जिस प्रकार वाह्यार्थवाद में। विज्ञानवाद में सम्पूर्ण लौकिक ज्ञान उसी प्रकार सम्भव है जैसे वाह्यार्थवाद में। हमारे लौकिक भ्रम और उसके निवारण की व्यवस्था स्वप्न में घटित भ्रम और स्वप्न में ही उसके निवारण के समान हो सकती है। इसी प्रकार अद्वैत-वेदान्त के मायावाद में भी व्यावहारिक सत्ता में अबाधितता के सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। केवल पारमार्थिक दृष्टि से, परम् ज्ञान के उदय होने पर सम्पूर्ण लौकिक ज्ञान बाधित हो जायेगा और केवल एक

ब्रह्मज्ञान रह जायेगा जिसमें ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान का भेद ही नहीं होगा।

कारणों की दोषरहितता

हमें जो भी ज्ञान होता है इन्द्रियों और मन के माध्यम से होता है। इसके अतिरिक्त ज्ञान की उत्पत्ति में प्रकाश, दूरी आदि वाह्य कारण भी होते हैं। इन उपकरणों में यदि कहीं कोई दोष है तो हमारा ज्ञान यथार्थ नहीं कहा जा सकता। यदि हम कही ऐसे कमरे में बैठे है जहाँ लाल प्रकाश है तो हमें श्वेत वस्तु भी लाल दिखलाई पड़ेगी। इसी प्रकार यदि हमारी आखों में कुछ दोष है या मन अनवधानयुक्त है तो विषय की प्रतीति हमें अन्यथा हो सकती है। अतः ज्ञान की यथार्थता के निश्चय के लिये यह निश्चय होना आवश्यक है कि ज्ञानोत्पत्ति के साधनों में कही कोई भी दोष तो नहीं है। भट्टमीमांसकों ने प्रमा के लक्षण में कारण की दोष-रहितता पर बल दिया है। उनकी दृष्टि से यदि कारण दोष-रहित है तो ज्ञान यथार्थ ही होगा। कारण के दोषों के कारण ही सन्देह और भ्रम की उत्पत्ति होती है। अतः यदि हम लक्षण में "कारणों की दोष-रहितता" स्वीकार कर ले तो निश्चितता और अबाधिता की आवश्यकता नहीं है। किन्तु वास्तव में यदि निश्चितता और अबाधिता लक्षण में है तो " कारणों की दोषरहिततता" को लक्षण का अंग बनाना अनावश्यक है।

अर्थक्रियाकारित्व

नैयायिक तथा बौद्ध दार्शनिक सम्यक ज्ञान के मानदण्ड के रूप में अर्थक्रियाकारित्व या प्रयोजन-पूर्ति को बहुत महत्व देते हैं। न्याय मुख्यतः प्रयोजन-पूर्ति के द्वारा ही ज्ञान के प्रमाण्य का निर्धारण मानता है प्रत्येक वस्तु के कुछ अपने गुण होते हैं। उदाहरणार्थ जल के द्वारा प्यास बुझाई जा सकती है, स्नान किया जा सकता है तथा कपड़ों को धोया जा सकता है। हम अपने ज्ञान की प्रामाणिकता

का निर्धारण यह देखकर करते हैं कि हमारे ज्ञान का विषय अपने प्रयोजन को पूर्ण करता है या नहीं। मान लीजिये हमें जल का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के बाद जल के प्रति हमारी प्रवृत्ति होती है- हम उसे पीकर देखते हैं। यदि वह हमारी प्यास को शान्त करता है तो हम समझेंगें कि हमारा जल-ज्ञान प्रामाणिक था और यदि वह प्यास को शान्त नहीं करता- उसका स्वाद भी कुछ भिन्न प्रकार का लगता है, तो हम समझेंगें कि हमारा जल-ज्ञान मिथ्या था। इस प्रकार ज्ञान के विषय द्वारा प्रायोजन की पूर्ति हमारे ज्ञान की प्रमाणिकता के निर्धारण में सहायक होती है।

बौद्ध नैयायिकों ने अविसंवादित्व को प्रमाण का लक्षण माना है और अविसंवादित्व का अर्थ **''अर्थक्रियाकारित्व''** -अपने कार्य की उत्पत्ति-क्रिया है।[26] बौद्धों के अनुसार सद् वस्तु का लक्षण ही अर्थक्रियाकारित्व[27] है। प्रत्येक सत् वस्तु किसी न किसी कार्य को अवश्य जन्म देती हें इसके विपरीत असत् वस्तु किसी कार्य को जन्म नहीं दे सकती । अतः यदि हम देखें कि जिस वस्तु का ज्ञान हमें हुआ है, वह अपने कार्य को जन्म दे रही है तो हम समझेंगे कि हमारा ज्ञान प्रामाणिक है ओर यदि हम देखें कि वह वस्तु अपने कार्य को जन्म नहीं दे रही तो हमारा ज्ञान मिथ्या है।

भट्टमीमांसकों ने इस अर्थक्रियाकारित्व रूप प्रमा के मानदण्ड को अनुचित माना है। नारायण के अनुसार यदि अर्थक्रियाकारित्व को प्रमा का लक्षण माना जाये तो भूत, भविष्यत् तथा अनुमान के विषयों के अर्थक्रियाकारी न होने के कारण उनकी अप्रामाणिकता स्वीकार करनी होगी। साथ ही स्मृति के कहीं-कहीं अर्थक्रियाकारी होने के कारण उसको प्रमा मानना होगा। अर्थक्रियाकारित्व की यह आलोचना बौद्धों के सन्दर्भ में है अतः इसका मूल्यांकन भी उन्हीं के संदर्भ में उचित होगा। बौद्ध नैयायिक केवल दो प्रमाण मानते हैं- प्रत्यक्ष और अनुमान और इन दोनों प्रमाणों के विषय उनकी

दृष्टि से पूर्णतः भिन्न है। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है जो वस्तुसत् है और अनुमान का विषय सामान्य है जो वस्तुसत् न होकर काल्पनिक है। प्रत्यक्ष वर्तमान विषयों का हो सकता है। अतः भूत और भविष्यत् विषय अनुमान के ही विषय होगें। ये विषय कभी भी स्वलक्षण रूप नहीं हो सकते और इसलिए न अर्थक्रियाकारी हो सकते हैं, न वस्तुसत् हो सकते हैं। अनुमान का विषय भी बौद्धों की दृष्टि से कभी स्वलक्षण नहीं हो सकता और इसलिये न अर्थक्रियाकारी हो सकता है, न वस्तुसत् हो सकता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि प्रत्यक्ष में भी केवल निर्विकल्पक ज्ञान का विषय स्वलक्षण होता है, सविकल्पक ज्ञान का विषय सामान्य ही हो सकता है। बौद्धों की दृष्टि से वास्तव में तो केवल निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है क्योंकि वही वस्तुसत् वस्तु का बोध कराता है, किन्तु सविकल्पक ज्ञान तथा अनुमान भी गौणतः प्रमाण है क्योंकि इनका विषय काल्पनिक होते हुए भी वस्तुसत् स्वलक्षण की प्राप्ति में सहायक होता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सविकल्पक ज्ञान तथा अनुमान द्वारा यद्यपि साक्षात् रूप से स्वलक्षण का ग्रहण नहीं किया जाता किन्तु परोक्षतः ग्रहण किया जाता है। भट्टों का यह आरोप कि बौद्धों की दृष्टि से भूत, भविष्यद् और अनुमान के विषय क्योंकि अर्थ क्रियाकारी नहीं हैं, अतः उनका ज्ञान अप्रामाणिक होगा, परमार्थतः तो ठीक ही है क्योंकि बौद्धों की दृष्टि से परमार्थतः निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, किन्तु जैसा कि हमने अभी देखा व्यवहार में वस्तुओं को प्राप्त कराने की दृष्टि से इन्हें भी गौणतः प्रमाण माना जा सकता है। नारायण का यह कथन कि स्मृति भी कही-कहीं अर्थ-क्रियाकारी होती है।, बौद्धों की दृष्टि से ठीक नहीं हो सकता क्यों कि उनकी दृष्टि से स्मृति का विषय कभी भी स्वलक्षण नहीं

हो सकता, सदैव सामान्य रूप ही होगा, अतः कभी अर्थक्रियाकारी भी नहीं हो सकता।

यदि हम भट्ट आलोचना न्याय-मत पर घटित करें तो इसे अनुचित पायेगें। न्यायमत का सार भी वास्तव में यही है कि वस्तु की वास्तविकता का ज्ञान हमें उससे होने वाले विभिन्न प्रभावों द्वारा हो सकता है। यहाँ अर्थक्रिया या प्रयोजन-पूर्ति का तात्पर्य केवल मनुष्य के हित में होने वाले प्रभावों से ही नहीं लेना चाहिये कोई भी ज्ञेय प्रभाव उसकी वास्तविकता का पोषण करता हैं। काँटें का गुण चुभना है। उसकी चुभन से भले ही हमारा कोई प्रयोजन सिद्ध न हो,चुभन के बोध से काँटे का ज्ञान पुष्ट अवश्य होता है। अतः अर्थक्रिया से प्रमाण-ग्रहण का तात्पर्य यहाँ वास्तव में कार्य से कारण के अनुमान द्वारा कारण की प्रामाणिकता और पुनः कारण के ज्ञान की प्रामाणिकता का ज्ञान कराना है।

समीक्षा

प्रमा के स्वरूप की खोज पूर्णतः विश्वसनीय ज्ञान की खोज और जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि यदि ज्ञान होने पर तुरन्त ही हम चाहें कि हमें यह पता चल जाये कि हमारा ज्ञान प्रमा है या नहीं तो सम्भव नहीं होगा। निश्चितता, अनधिगतता, कारण-दोषों का अभाव आदि द्वारा हम काफी कुछ सीमा तक इस विश्वास तक अवश्य पहुँच सकते हैं कि हमारा ज्ञान "प्रमा" है, किन्तु फिर भी यह सम्भवना बनी ही रहती है कि कहीं आगे चल कर इसका बाध न हो जाये। इतना अवश्य है कि यह सम्भावना केवल तार्किक दृष्टि से होती है, ज्ञाता के मन में अधिकांशतः इस प्रकार की कोई सम्भावना नहीं रहती और वह अपने ज्ञान को विश्वसनीय मान कर ही प्रवृत्ति होता। अतः तार्किक दृष्टि से भले ही वह प्रमा को प्राप्त न कर पाये, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कर ही लेता है।

<u>संदर्भ - ग्रन्थ - सूचिका</u>

1. Some Main Problems of Philosaphy, G.F Moore George Allen and Unwin Landon, 1953 PP. 81-82.
2. 'यदर्थविज्ञानम् सा प्रमितिः' न्यायदर्शनम् पृ.सं. 24
3. श्लोकवार्त्तिक, 2, 53
4. तंत्ररहस्य पृ.सं. 3
5. तर्कभाषा (मुसलगाँवकर) पृ.सं. 14
6. तर्कसंग्रह (बोदास), पृ. 23
7. 'अनुभवों नाम स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानम' ।
   तर्कभाषा (मुसलगाँवकर) पृ.14
8. वहीं
9. तर्कसंग्रह (बोदास), पृ.सं. 22
10 वहीं, पृ.सं. 57
11 "प्रमाण" शब्द यहाँ प्रमा का ही द्योतक है।
12 तर्कभाषा (मुसलगांवकर) पृ.सं. 53। यहाँ इसे उद्घृत करके इसका खण्डन किया गया है। अनाधिगत-विषयं प्रमाणम्- धर्मोत्तरः न्यायबिन्दु टीका पृ. सं. 3
13 मानमेयोदय पृ.सं. 2
14 'अनुभूतिः प्रमाणम् सा स्मृतेरन्या'
   प्रकरणपञ्चिका पृ. सं. 127
15. तर्कभाषा, पृ.सं. 53
16. मानमेयोदय, पृ.सं. 3-4
17 तर्कभाष, पृ.सं. 53
18 प्रकरणपञ्चिका, पृ. सं. 42
19 "अव्यभिचारिणीमसन्दिगधार्थोपलब्धि विदधती
   बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्।"

न्यायमंजरी, प्रथम भाग, पृ. सं. 12

20. तर्कभाष (मुसलगाँवकर) पृ.सं. 14

21. तस्मात् दृढं यदुत्पन्नं नाविसंवादमृच्छति।
    ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत् प्रमाण प्रतीयताम्।।

    श्लोकवार्त्तिक, शून्यवाद,2,20

22. देखिये ऊपर पाद टिप्पणी में जयन्त-प्रदत्त प्रमाण का लक्षण

23. 'यथार्थानुभवः प्रमा'

    तर्कभाषा, पृ.सं. 14

24. "कारणदोषबाधक ज्ञानरहितम् अगृहीतग्राही ज्ञानं प्रमाणम्।"
    पार्थसारथीः शास्त्रदीपिका, पृ.सं.45

25. भारतीय दार्शनिक समस्याएँ, पृ.सं. 56

26. "प्रमाणविसंवादि ज्ञानम् अर्थक्रियास्थितिः।
    अविसंवादनम् ...." प्रमाणवार्त्तिक

27. "अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणं वस्तु परमार्थ सत्।

    न्यायबिन्दु, 1, 15

चतुर्थ अध्याय

प्रमाण का स्वरूप

चतुर्थ अध्याय

प्रमाण का स्वरूप

प्रमाण का महत्त्व

यद्यपि प्रमाणों के स्वरूप और प्रकारों का निरूपण करना इस शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य नही, तथापि शोध-प्रबन्ध के प्रतिपाद्य विषय प्रामाण्यवाद के निरूपण के लिए प्रमाणों के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक हो जाता है। भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में अपने-अपने वस्तुतत्त्व सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार प्रमाण के भिन्न-भिन्न लक्षण किये गये हैं।

प्रमाण शब्द 'करण' (साधन) अर्थ वाले 'ल्युट्'(अन) प्रत्यय से निष्पन्न होता है, अर्थात **'प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणम्'** अथवा **'प्रमा जनकं प्रमाणम्'** जिससे प्रमा या प्रमिति हो वह प्रमाण है। इस प्रकार प्रमाण साधन है और प्रमा या प्रमिति उसका फल है। यह तो प्रमाण शब्द का सामान्य अर्थ हुआ। परन्तु प्रमिति के करण का क्या स्वरूप है, इस विषय मे दार्शनिक सम्प्रदायों में मतभेद है।

न्याय-वैशैषिक दर्शन

'प्रमाण' शब्द की व्युत्पत्ति है **'प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणम्'** (प्रमा ल्युट्) अन- 'जिससे प्रमा की उपलब्धि हो'। न्याय दर्शन प्रमाण का लक्षण इसी व्युत्पत्ति के आधार पर करता है। वात्स्यायन के अनुसार प्रमाण का लक्षण है- **'उपलब्धि-साधनानि प्रमाणनि'**।[1] उपलब्धि ज्ञान के साधन प्रमाण है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि वात्स्यायन ने **'उपलब्धि'** शब्द का प्रयोग किया है जो ज्ञान का बाधक है। साथ ही उन्होंने **'साधन'** शब्द का प्रयोग किया है। इस लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी भी ज्ञान के सभी प्रकार के साधन प्रमाण कहे जा सकते हैं। किन्तु बाद के न्याय-लेखकों ने इस लक्षण का परिष्कार किया। जयन्त के अनुसार 'अव्यभिचारी और असंदिग्ध विषय-ज्ञान का सम्पादन करने वाली बोध-अबोध स्वरूप

वाली सामग्री प्रमाण है।[2] यहाँ सामान्य 'उपलब्धि' (ज्ञान) में अव्यभिचारी और असंदिग्ध विशेषण जोड़ दिये गये हैं जिससे फलितार्थ यह आता है कि प्रमा की साधन-सामग्री प्रमाण है। जयन्त ने यह भी स्पष्ट किया है कि प्रमाण में साधनत्व सामान्य नहीं अपितु करण सूचक है और करण का लक्षण होता है। **'साधकतमं करणम्'**[3]- 'प्रकृष्ट साधक करण होता है'। इससे फलितार्थ के रूप में प्रमाण का वह प्रसिद्ध लक्षण प्राप्त हो जाता है जो तर्कभाषा आदि प्रकरणों में प्राप्त होता है। तर्कभाषा के अनुसार **'प्रमाकरणं प्रमाणम्'**[4]- 'प्रमा का करण प्रमाण है' और करण को तर्कभाषाकार ने **'साधकतमं करणम्'**[5] कह कर ही परिभाषित किया है। तर्कसंग्रह करण को **'असाधरणं कारणं करणम्'**[6] कह कर परिभाषित करता है। इनसे स्पष्ट है कि प्रमा के प्रत्येक साधन या कारण को करण नहीं कहा जाता, उसमें कुछ वैशिष्ट्य अपेक्षित है। इन लक्षणों के आधार पर प्रमाण के स्वरूप में निम्नलिखित बातें द्रष्टव्य हैं:-

1. प्रत्येक ज्ञान के साधन को प्रमाण नहीं कहा जाता। यह ज्ञान 'प्रमा' रूप होना चाहिये।
2. प्रमा के प्रत्येक साधन को प्रमाण नहीं कहा जा सकता, उस साधन में किसी प्रकार का अतिशय होना चाहिये। इस अतिशय के विषय में हमें न्याय-वैशैषिक दर्शन में कई प्रकार के मत प्राप्त होते है:-

(i) जयन्त का मत है कि करण की अतिशयता इस बात में होती है कि उसके होने पर तुरन्त कार्य की उत्पत्ति हो जाये। यह बात हमें कारकों की 'सामग्री' में प्राप्त होती है- एक-एक करके कोई कभी कारक कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता किन्तु जब सभी कारण एकत्रित हो जाते हैं तो तुरन्त कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। अतः 'सामग्री' को ही करण मानना

चाहिए।[7] प्रमा की उत्पत्ति में भी सभी प्रकार की कारण सामग्री प्रमाण कहलायेगी। जयन्त एक अन्य मत का खण्डन करते हैं जिसके अनुसार करण शब्द के अर्थ 'साधकतमं' में 'तमम्' प्रत्यय तुलना को प्रदर्शित करता है और तुलना तभी सम्भव है जब कोई दूसरा भी हो। 'सामग्री' को करण मानने में दूसरी कठिनाई यह है कि विषय भी सामग्री के अन्तर्गत आ जाता है और यदि विषय को भी सामग्री के अंतर्गत ले लिया जाता है तो ज्ञान निर्विषयक हो जायेगा। फिर लोक में सामग्री को करण माना भी नहीं जाता– कोई भी यह नहीं कहता कि सामग्री से देखते हैं: लोग यही कहते हुए सुने जाते हैं कि 'दीपक से देखते हैं' या 'चक्षु से देखते हैं' अत: सामग्री को करण न मानकर किसी ऐसी वस्तु को मानना चाहिये जिसका कार्य की उत्पत्ति से सीधा सम्बन्ध हो।[8] जयन्त का उत्तर है कि कार्य की उत्पत्ति में सभी कारणों का समान महत्त होता है, क्योंकि किसी एक के भी न होने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। अत: यह कहना संभव नहीं है कि कोई एक कारण सातिशय है। फिर, ज्ञान की उत्पत्ति में तो ऐसा कोई कारण है भी नहीं जिसका ज्ञानोत्पत्ति से सीधा संबंध न हो– इन्द्रिय, मन, विषय आदि का जब परस्पर सम्बन्ध होता है तब ज्ञान की निष्पत्ति होती है। यदि कोई कहे कि वह कारण सातिशय है जिसके होने पर तुरन्त कार्य की उत्पत्ति हो जाती है,[9] तो ऐसा तो, जयन्त के अनुसार केवल करण में ही नहीं, कर्म में भी संभव है– मान लीजिये घनी वर्षा और अन्धकारयुक्त रात्रि में सहसा विद्युत चमकती है और एक स्त्री का ज्ञान होता है। यहाँ स्त्री ही सातिशय हो जायेगी क्योंकि बिना स्त्री के स्त्री–ज्ञान होगा नहीं और उसके आते ही हो जायेगा। इस प्रकार कर्म भी करण के

अन्तर्गत आ जायेगा। अतः किसी भी एक कारण को करण न मानकर सामग्री को ही करण मानना उचित होगा।[10]

पूर्वपक्षी पुनः शंका करता है कि सामग्री को करण मानने में ज्ञान की उत्पत्ति में प्रमुख प्रमाता और प्रमेय भी सामग्री में आ जायेंगे क्योकि इनके बिना भी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[11] इस प्रकार प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण का भेद ही समाप्त हो जायेगा। जयन्त का उत्तर है कि यह बात सत्य है किन्तु प्रमाता और प्रमेय की मुख्यता का कारण सामग्री की कृपा से प्राप्त प्रमिति का सम्बन्ध है। यदि सामग्री नहीं होगी तो प्रमिति न होने से प्रमाता और प्रमेय भी मुख्य न होकर गौण हो जायेंगे।[12] तात्पर्य यह है कि प्रमाता और प्रमेय की सत्ता क्योंकि कारण–सामग्री पर निर्भर है, अतः कारण–सामग्री को पृथक रूप से प्रमाण मानना चाहिये। अतः जयन्त के अनुसार प्रमाता तथ प्रमेय से भिन्न प्रमा की कारण–सामग्री प्रमाण है।[13]

(ii) अन्नंभट्ट 'असाधारण कारण' को करण मानते हैं कारण दो प्रकार के माने गये है– साधारण कारण जो प्रत्येक कार्य के प्रति कारण होते हैं, जैसे ईश्वर, अदृष्ट, दिक्, काल आदि और असाधारण कारण जो किसी विशिष्ट कार्य के प्रति ही कारण होते हैं अन्नंभट्ट के अनुसार विशिष्ट कार्य के विशिष्ट कारण ही करण हैं। अतः विशिष्ट प्रमा की उत्पत्ति में जितने भी विशिष्ट कारण– इन्द्रिय, विषय, आदि हैं, सभी करण हैं। तर्कसंग्रह की टीका 'न्यायबोधिनी' ने इस लक्षण में 'व्यापारवत्' और जोड़ दिया है और उसके अनुसार व्यापारयुक्त असाधारण कारण करण है।[14] इस दृष्टि से वही कारण करण माना जायेगा जिसमें कुछ व्यापार है। दण्ड को घट का कारण नहीं कह सकते, जो दण्ड चाक को घुमाने

का कार्य कर रहा हो वही करण माना जायेगा। इसी प्रकार ज्ञान क्रिया में इन्द्रियाँ अपने आप में करण नहीं होंगी जब तक वे अर्थ–सन्निकर्ष आदि व्यापार में प्रवृत्त न हों।

(iii) नव्य नैयायिकों ने करण की परिभाषा में और परिष्कार किया। उनके अनुसार करण का लक्षण है–**'फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणम्'** अर्थात ऐसा कारण जिसके होने पर तुरन्त कार्य की उत्पत्ति हो जाये। इस लक्षण के अनुसार स्वयं व्यापार करण है क्योकि व्यापार के होने पर ही तुरन्त कार्य की उत्पत्ति होती है। इसलिए केशव मिश्र के अनुसार प्रमाता, प्रमेय आदि करण नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनके होने पर भी, किन्तु इन्द्रियार्थ–सन्निकर्ष न होने पर, प्रमा की उत्पत्ति नहीं होती: इन्द्रियार्थ–सन्निकर्ष होते ही तुरन्त प्रमा की उत्पत्ति हो जाती है– अतः इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष आदि ही प्रमाण है।[15]

3. बौद्धों और मीमांसकों ने प्रमाण को ज्ञानस्वरूप माना है। किन्तु न्याय–वैशेषिक का इस विषय में मतभेद है। न्याय वैशेषिक के अनुसार प्रमाण ज्ञान–स्वरूप भी हो सकता है और ज्ञान रहित वस्तु भीं। इसीलिए जयन्त ने प्रमाण के अपने लक्षण में सामग्री को **'बोधाबोध–स्वभावा'** कहा है– सामग्री बोध रूप भी हो सकती है और अबोध रूप भी। वाचस्पति मिश्र ने भी इसे ज्ञानरूप और अज्ञानरूप दोनों प्रकार का माना है।[16] इसी सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए केशव मिश्र ने प्रत्यक्ष–प्रमाण के रूप में तीन प्रकार के करण माने है– कभी इन्द्रिय, कभी इन्द्रियार्थ–सन्निकर्ष और कभी निर्विकल्पक ज्ञान।[17] जब निर्विकल्पक ज्ञान को फल माना जाता है तो इन्द्रिय करण है और इन्द्रियार्थ–सन्निकर्ष व्यापार। जब सविकल्पक ज्ञान को फल माना जाता है तो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष करण है और निर्विकल्पक ज्ञान व्यापार। जब सविकल्पक ज्ञान के बाद होने वाली

हानोपादानोपेक्षा बुद्धि[18] को फल माना जाता है तो निर्विकल्पक ज्ञान करण है और सविकल्पक ज्ञान व्यापार ।[19]

पूर्व मीमांसा दर्शन

मीमांसा दर्शन में प्रभाकर सम्प्रदाय में प्रमाण शब्द का प्रयोग प्रमा अर्थ में ही किया गया है। शालिकनाथ के अनुसार- '**प्रमाणमनुभूतिः, सा स्मृतेरण्या**'[20] अर्थात अनुभव प्रमाण है और वह स्मृति से भिन्न हैं। स्पष्टतः यह प्रमा का ही लक्षण है।

भाट्ट मत में प्रमाण का लक्षण न्याय के समान ही '**प्रमाकरणं प्रमाणम्**'[21] है। प्रमा को यहाँ अज्ञात विषय का ग्रहण माना गया है। उसके करण के रूप में इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष आदि प्रमाण माने गये हैं।[22] कुमारिल के अनुसार-

यद्वेन्द्रियं प्रमाणं तस्य वाऽर्थेन संगतिः।
मनसो वेन्द्रियैर्योग आत्मना सर्व एव वा।।[23]

अथवा इन्द्रिय प्रमाण है, अथवा उसका विषय के साथ सन्निकर्ष, अथवा मन का इन्द्रियों के साथ या आत्मा के साथ योग अथवा ये सभी (सम्मिलित रूप में) प्रमाण है।

इससे स्पष्ट है कि जहाँ तक प्रमाण के स्वरूप का प्रश्न है टाट्ट मत में तथा न्याय-मत में कोई अन्तर नहीं है। भाट्ट-मत में एक स्थान पर अवश्य कुछ अन्तर आता है। इस मत के अनुसार ज्ञान द्वारा विषय में 'ज्ञातता' या 'प्रकटता' रूप एक धर्म उत्पन्न कर दिया जाता है जिसके द्वारा हमें ज्ञान का बोध होता है अर्थात हमें यह पता चलता है कि हमें विषय का बोध हो गया। ज्ञान जहाँ एक ओर इन्द्रिय आदि करणों का फल है वहाँ 'ज्ञातता' के प्रति करण भी है। ज्ञातता का करण होने के कारण 'ज्ञान' के लिये भट्ट मीमांसक प्रमाण शब्द का व्यवहार करते हैं। इसीलिये प्रायः उन्हें '**फलप्रमाणवादी**' कहा जाता है।[24] न्याय ज्ञातता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता, अतः न्याय के अनुसार इस दृष्टि

से ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता। किन्तु न्याय-मत में श्री ज्ञान प्रमाण हो सका है, यह हम उपर देख चुके हैं।

बौद्ध दर्शन

न्याय-मत में हम देख चुके हैं कि प्रमाण प्रमा से भिन्न है। न्याय ने ज्ञान-प्रकिया को एक सामान्य किया के साम्य पर कल्पित किया है। जब कोई लकड़हारा कुल्हाड़ी से लकड़ी काटता है तो यहाँ चार तत्वों को देखा जा सकता है।-कर्ता (लकड़हारा), कर्म या विषय (वृक्ष), करण (कुल्हाड़ी) और काटने का व्यापार (कुल्हाड़ी को उठाकर वृक्ष पर प्रहार करना)। इस क्रिया का फल है वृक्ष में कटान पैदा होना। इसी प्रकार ज्ञान-प्रक्रिया में भी चार तत्व हैं- प्रमाता, प्रमेय (विषय), प्रमाण (इन्दिय आदि) और व्यापार (इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष आदि)। इसका फल है प्रमा। स्पष्टतः यहाँ करण (प्रमाण) और फल (प्रमा) नितान्त भिन्न तत्त्व हैं। बौद्ध-मत अपने तत्त्व-दर्शन पर आधृत है। और इसके अनुसार प्रमाण और प्रमाण-फल एक ही तत्त्व है। बौद्धों के अनुसार ज्ञान-प्रक्रिया सामान्य क्रिया से नितान्त भिन्न है। यहाँ इन्द्रियाँ हैं, विषय है और विज्ञान हैं- तीनों में समन्वय अवश्य है किन्तु कोई किसी पर निर्भर नहीं है, न कोई किसी को उत्पन्न करता है। न्याय-मत में प्रत्यक्ष-प्रक्रिया में इन्द्रिय का प्रकाश विषय तक जाता है और उसको ग्रहण कर मन के माध्यम से आत्मा तक पहुँचता है। किन्तु बौद्ध-मत में ऐसा कुछ नहीं होता। यहाँ एक ओर विषय का संवेदन है, दूसरी ओर उसका ज्ञान। दोनों में सारूप्य है। हम इस 'ज्ञान' को विशिष्ट विषय (स्वलक्षण) का प्रमाण मान सकते हैं, किन्तु यह साथ-साथ फल भी है। एक ही तत्त्व प्रमाण और फल दोनों हैं। विषय के साथ ज्ञान का सारूप्य विषय के ग्रहण में प्रकृष्ट उपकारक माना जाने के कारण प्रमाण माना जा सकता है।[25] किन्तु 'सारूप्य' और ज्ञान तत्त्वतः भिन्न नहीं हैं। हम एक ही तत्त्व के ज्ञान को- दो

भिन्न दृष्टियों से देख सकते हैं। 'सारूप्य' की दृष्टि से उसे प्रमाण कह सकते हैं और ज्ञान की दृष्टि से फल कह सकते हैं। तत्त्वतः दोनों एक ही है।[26]

अतः न्याय-वैशेषिक की दृष्टि से प्रमाण जहाँ ज्ञान-रूप और अज्ञानरूप दोनों प्रकार का हो सकता है, वहाँ बौद्धों की दृष्टि से यह केवल ज्ञान-रूप है बौद्ध नैयायिकों द्वारा प्रदत्त प्रमाण के लक्षण से हमें इस बात का बोध होता है, प्रमाणसमुच्चय की टीका में कहा गया है- अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति प्रमाणसामाण्यलक्षणम्[27] अर्थात अज्ञात अर्थ का बोध कराने वाला (ज्ञान) प्रमाण है। न्यायबिन्दु के टीकाकार धर्मोत्तर कहते हैं- अत एव अनधिगतविषयं प्रमाणम्[28] अर्थात ऐसा ज्ञान जो अप्राप्त विषय का ग्रहण कराये प्रमाण है। प्रमाणवार्त्तिक में धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्'[29] प्रमाण अविसंवादी ज्ञान है- कहकर परिभाषित किया है। यहाँ अविसंवादी से तात्पर्य है ऐसा ज्ञान जिसके द्वारा जिस वस्तु का बोध कराया जाता है वह उसी रूप में प्राप्त हो जाती है। ये सभी लक्षण स्पष्टतः प्रमा के ही लक्षण हैं और इस दृष्टि से बोद्धों के अनुसार प्रमाण प्रमा से अभिन्न हैं।

सांख्य-योग दर्शन

सांख्य-दर्शन में वाचस्पति मिश्र के निम्नलिखित विवेचन में हमें प्रमाण के स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है-

प्रमीयतेऽनेन इति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वं गम्यते। असंदिग्धाऽविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः। बोधश्च पौरूषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणम्।[30]

अर्थात 'जिसके द्वारा प्रमा का ग्रहण हो' इस निर्वचन के अनुसार प्रमाण का प्रमा के प्रति करण होने का बोध होता है। यह प्रमाण संदेह-रहित, भ्रम-रहित, अज्ञात अर्थ को विषय बनाने वाली

चित्तवृत्ति है। पुरूष को होने वाला बोध इसका फल अर्थात प्रमा है। इस प्रमा का साधन प्रमाण है।'

सांख्य के अनुसार जब हम किसी वाह्य वस्तु को इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करते हैं तो हमारी बुद्धि उस वस्तु के आकार को धारण कर लेती है। बुद्धि यद्यपि जड़ है, किन्तु आत्मा के प्रतिबिम्ब के कारण चेतन सी हो जाती है और उसका विषय के आकार को धारण करना भी ज्ञान माना जाता है। बुद्धि का यह विषयाकार होना ही 'बुद्धिवृत्ति' या 'चित्तवृत्ति' कही जाती है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार विषयाकारित बुद्धि में पडे पुरूष के प्रतिबिम्ब को जो इस विषय का बोध होता है यही पौरूपेय बोध या प्रमा है।[31] विज्ञानभिक्षु के अनुसार विषयाकार बुद्धि का प्रतिबिम्ब पुरूष में भी पड़ता है और इस प्रतिबिम्ब द्वारा पुरूष को जो बोध होता है यह पौरूषेय बोध या प्रमा है। विषयाकार बुद्धि ही इस प्रमा का करण है, अतः यही प्रमाण है।[32]

जैन दर्शन

जैन-दर्शन में जो प्रमाण के विविध लक्षण प्राप्त होते हैं उनसे वहाँ प्रमाण प्रमा रूप ही सिद्ध होता है। आप्तमीमांसा के अनुसार 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणम्'[33] अर्थत तत्त्वज्ञानं ही प्रमाण है। परीक्षामुख के अनुसार 'अपना और अपूर्व (अज्ञात) अर्थ का सम्यक् निश्चय कराने वाला ज्ञान ही प्रमाण है'।[34] बृहत्-स्वयम्भू-स्तोत्र के अनुसार 'स्वपरावभासकं यथा प्रमाणम्'- अपने को और दूसरे (विषय) को प्रकाशित करने वाला प्रमाण है। इस प्रकार ऐसा ज्ञान जो स्वयं को भी प्रकाशित करे और विषय को भी प्रकाशित करे, प्रमाण है। इन्द्रिय या इद्रियार्थ-सन्निकर्ष को जैन-दर्शन में प्रमाण नहीं माना गया है।

अद्वैत–वेदान्त में 'प्रमाकरणं प्रमाणम्'[35] ही प्रमाण का लक्षण ग्रहण किया गया है। प्रमा के लक्षण में उन्होंने "अनधिगत" और "अबाधित" विषय के ज्ञान को ग्रहण किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार प्रमा के लक्षण में 'अनधिगत' विशेषण की आवश्यकता नहीं, केवल 'अबाधित' ज्ञान ही प्रमा हैं। इस दृष्टि से स्मृति भी उनके अनुसार प्रमा हो सकती है। जब 'अनधिगत' को भी विशेषण रूप में ग्रहण किया जाता है तो प्रश्न उठता है कि धारावाहिक ज्ञान में प्रमा का लक्षण नहीं जा सकेंगा। इसका उत्तर देते हुए धर्मराजाध्वरीन्द्र का कथन है कि धरावाहिक ज्ञानों में प्रत्येक ज्ञान उस क्षण से विशिष्ट होता है, अतः वह अनधिगत विषय का ही ज्ञान है। स्पष्टतः उनका यह मत भाट्ट–मत के समान है।

प्रमा के उपर्युक्त लक्षण में एक शंका यह हो सकती है कि वेदान्त के अनुसार घट आदि पदार्थ मिथ्या हैं, फिर उनका ज्ञान अबाधित कैसे हो सकता है? इस शंका के समाधान में कहा गया है कि 'प्रमा' के लक्षण में दिये गये 'अबाधित' शब्द का अर्थ है संसार–दशा में बाधित न होना है और जब तक ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता तब तक घटादि–ज्ञान का बोध नहीं होता। अतः घट–ज्ञान में प्रमा के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हैं।[36]

वेदान्त के अनुसार प्रमा के करण चक्षु आदि को भी प्रमाण माना जाता है। यहाँ शंका हो सकती है कि वेदान्त के अनुसार चैतन्य ही ज्ञान हैं और वह अनादि है, फिर नेत्र आदि उसके करण कैसे हो सकते है? इसके उत्तर में कहा गया है कि रूप से ज्ञान कहा जाता है और इसका साधन होने से चक्षु आदि को भी प्रमाण कहा जाता है।[37] इस प्रकार वेदान्त में न्याय के समान ही ज्ञान और ज्ञान–भिन्न, दोनों प्रकार के पदार्थो को प्रमाण माना गया है।

प्रमाणों के भेद

विभिन्न दर्शनों में प्रमाणों की संख्या और उनके विशिष्ट स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतभेद है। भारतीय दर्शनों में कुल छः प्रमाण स्वीकृत हैं और पौराणिक आठ प्रमाण मानते हैं। भरतीय दर्शनों द्वारा स्वीकृत प्रमाण हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द या आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। इनके अतिरिक्त पौराणिकों द्वारा स्वीकृत दो अन्य प्रमाण हैं- ऐतिह्य और सम्भव। भारतीय दर्शनों में चार्वाक केवल 'प्रत्यक्ष' प्रमाण को स्वीकार करता है। वैशेषिक तथा बौद्ध दर्शन 'प्रत्यक्ष' तथा अनुमान' इन दो प्रमार्णे को स्वीकार करते हैं। जैन, सांख्य तथा योग तीन प्रमाणों को स्वीकार करते हैं- 'प्रत्यक्ष', अनुमान' तथा 'शब्द'। न्याय इन तीनों के अतिरिक्त 'उपमान' को भी स्वीकार करता है और इस प्रकार चार प्रमाण स्वीकार करता है। मीमांसा दर्शन में प्रभाकर सम्प्रदाय न्याय के उपर्युक्त चार प्रमाणों के साथ-साथ अर्थापत्ति को भी स्वीकार करता है और इस प्रकार पाँच प्रमाण स्वीकार करता है। मीमांसा में ही भट्ट सम्प्रदाय तथा वेदान्त उपर्युक्त पाँच के अतिरिक्त 'अनुपलब्धि' नामक छठा प्रमाण स्वीकार करते हैं पौराणिक लोग इन सभी छः प्रमाणों के अतिरिक्त 'ऐतिह्य' और 'सम्भव' इन दो अन्य प्रमाणों को स्वीकार करते हैं और इस प्रकार वे आठ प्रमाण स्वीकार करते हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूचिका

1. संन्दर्भ-ग्रन्थ सूचिका

1- वात्स्यायनभाष्य न्यायसूत्र, 1,1,3

2- अव्यभिचारिणीम सन्दिग्धर्थोपलब्धि विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्।-

न्यायमञ्जरी, पृ0 12

3 यत एव साधकतमं करणं करणसाधनश्च प्रमाणशब्दः.....................।

न्यायमञ्जरी पृ0 12

4 तर्कभाषा (मुसलगाँवकर) पृ0 11

5 वही पृ0 19

6 तर्कसंग्रह (बोदास) पृ0 25

7 न्यायमञ्जरी पृ0 12

8 वही

9 अथ सहसैव कार्यजनमतिशयः।

न्यायमञ्जरी- पृ0 12

10 न्यायमञ्जरी पृ0-12-13

11 वही पृ0 13

12 वही

13 वही, पृ0 14

14 व्यापारवदसाधरणकारणं करणम्।

तर्कसंग्रह पृ0 25

15 तर्कभाषा (मुसलगाँवकर) पृ0 59

16 तदेव ज्ञानमज्ञानं वा उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्।
न्यायवार्त्तिक तात्पर्यटीका (न्यायदर्शनम्) पृ016

17 तर्कभाषा पृ0 60

18 तर्कभाषा (मुसलगाँवकर) पृ0 70-72

19 प्रकरणपञ्चिका पृ0 42

20 प्रमाकरणमेवात्र प्रमाणं तर्कपक्षवत्

मानमेयोदय- पृ0 2

21 वहीं पृ0-7

22 श्लोकवार्त्तिक पृ0 152

23 मानमेयोदय, पृ0 8

24 अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्

न्यायबिन्दु (चौखम्या) पृ० 18

25 Stcherbatsky : Buddhist Logic . P.P, 67-69

न्यायबिन्दु तथा न्यायबिन्दुटीका पृ० 20–21

26 प्रमाणसमुच्चय (मैसूर,विश्वविद्यालय) पृ० 118

27 न्यायबिन्दुटीका (चौखम्भा) पृ० 4

28 प्रमाणवार्त्तिक, 1,3

29 सांख्यकारिका 4 पर सांख्यतत्त्व कौमुदी

30 योगभाष्य- तत्त्ववैशारदी, (कलकत्ता) पृ011

31 प्रमाणंवृत्तिरेव च योगवार्त्तिक, पृ० 30

32 आप्तमीमांसा कारि० 101

33 स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।

परीक्षामुख–1,1

34 वेदान्तपरिभाषा (आड्यार लाईब्रेरी, मद्रास) पृ० 3

35 वही, पृ० 4

36 वही, पृ० 7–8

पंचम अध्याय

ख्यातिवा

पंचम अध्याय

ख्यातिवाद

ख्याति का अर्थ

भ्रम के विषय में जितने वाद है उन्हें ख्यातिवाद कहा जाता है। 'ख्याति' का शाब्दिक अर्थ है 'ज्ञान'। किन्तु दार्शनिक शब्दावली में यह 'भ्रम-ज्ञान' के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इसका कारण यह है कि जागतिक ज्ञान को लेकर जो विश्लेषण प्रारम्भ हुआ, वही अन्त में भ्रम-ज्ञान के विश्लेषण में परिणत हो गया। भ्रम भारतीय ज्ञानमीमांसा का प्रमुख सिद्धान्त है। प्रत्येक भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय में प्रमा (सम्यक् ज्ञान) के साथ-साथ भ्रम (मिथ्याज्ञान) का भी निरूपण किया गया है। भ्रम, भ्रान्ति या मिथ्याज्ञान के विवेचन को **'ख्यातिवाद'** कहते है। भ्रम के अस्तित्त्व को सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं, किन्तु इसके कारण और निवारण की व्याख्या अपने-अपने सम्प्रदाय की मान्यताओं के अनुसार ही करते हैं। विपरीत अनुमान का नाम ही भ्रम है अर्थात् जिस वस्तु का जो स्वाभाविक स्वरूप नहीं है, उसे उस रूप में समझना ही भ्रम है। चूकि यह प्रमा के ठीक विपरीत है, अतः यह अप्रमा है। प्रमा यर्थाथ अनुभव है अप्रमा अयर्थाथ अनुभव है। परन्तु प्रमा और अप्रमा दोनों ज्ञान रूप ही है। यह अज्ञान या ज्ञानाभाव रूप नहीं है। इसकी ज्ञानरूपता के कारण ही सभी दार्शनिक इसे 'ख्याति' कहते हैं। केवल प्रभाकर मीमांसक इसे अख्याति या अज्ञान रूप मानते है।

भ्रम अप्रमा होते हुए भी संशय, तर्क (अप्रमा के तीन रूप हैं - संशय, विपर्यय, तर्क)से भिन्न है। संशय का लक्षण है - **'एकस्मिन्धर्मिणि विरूद्धनानाधर्माविगाहि ज्ञानं संशयः'** अर्थात एक ही धर्मी में जो विरूद्ध नाना प्रकार के धर्मो का बोध होता है उसे संशय कहते है। संशय विरूद्ध कोटि ज्ञान है, जिससे निश्चय नहीं

हो पाता है, किन्तु भ्रम निश्चयात्मक ज्ञान है। संशय की अवस्था में कर्म नहीं हो पाता, अतः इसे निष्क्रिय माना गया है, परन्तु भ्रम की अवस्था सक्रिय है। तर्क का लक्षण दिया गया है– **'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः'** अर्थात् व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है। किन्तु तर्क मिथ्याज्ञान होते हुये भी यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में सहायक होता है। भ्रम स्मृति से भी भिन्न है। स्मृति तो पूर्व ज्ञात विषय का स्मरण है, किन्तु भ्रम का विषय सामने वर्तमान रहता है। स्मृति निर्विषयक ज्ञान है, जबकि भ्रम सविषयक ज्ञान है।

भ्रम सिद्धान्त का प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय के आधारभूत मौलिक सिद्धान्तों से गहरा सम्बन्ध है। अनेक दर्शन विशेषकर वाह्यजगत् को असत् मानने वाले वाह्यजगत् की सत्ता का समाधान भ्रान्ति के आधार पर करते है। उस भ्रान्ति को वे अनादि और नैसर्गिक रूप देते है। परन्तु वह भ्रान्ति हमारे जीवन में होने वाली व्यावहारिक भ्रान्ति से मिलती है। इसलिए व्यावहारिक भ्रान्ति का समाधान इस प्रकार किया जाता है कि उसका अनादि भ्रान्ति से सामाञ्जस्य हो जाता है। उदा0 के लिए वेदान्त में जगत् का स्वरूप अनिर्वचनीय भ्रान्ति पर आश्रित है और इसलिये वेदान्त दर्शन व्यावहारिक भ्रान्ति का समाधान भी अनिर्वचनीय ख्याति के रूप में करता है। इस भ्रान्ति के सिद्धान्त का प्रामाण्यवाद से गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि भ्रान्ति होने पर प्रामाण्य का अभाव होता है। इसलिये प्रामाण्यवाद के निरूपण में भ्रान्ति–सिद्धान्त का विवेचन आवश्यक हो जाता है। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों ने भ्रम की व्याख्या करने के लिए विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जो अधोलिखित है –

असतख्यातिवाद

यह शून्यवादी बौद्धों का सिद्धान्त है। इस मत के अनुसार सभी वस्तुएं तत्त्वतः अभाव रूप है क्योंकि जो वस्तु न आदि में

है और न अन्त में है वह मध्य में कैसे रह सकती है?[1] समस्त सांसारिक पदार्थ न अपनी उत्पत्ति से पूर्व हैं और न विनाश के पश्चात् हैं। अतः आदि और अन्त में शून्य रूप होने के कारण मध्य में भी वह शून्य रूप ही है। वर्तमानत्त्व में कुछ नहीं हैं क्योंकि यह भी निर्देश के पहले (भविष्यत्) और निर्देश के पश्चात् (अतीत) होता है। यह वर्तमान होना भावी होना और अतीत होना भी वस्तुतः कुछ नहीं है। सब असत् या शून्य ही है।

ज्ञान की एक शक्ति अविद्या है। जो असत् वस्तु का प्रकाशन करने में समर्थ है। इस सम्बन्ध में बौद्ध मत का उल्लेख करते हुये वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' में इस प्रकार व्यक्त किया है, " विषय में प्रकाशित होने की कोई सामर्थ्य न रहने पर भी ज्ञान ही ऐसा है कि विषय अपने प्रत्यय (ज्ञान) की सामर्थ्य से ही प्राप्त स्वरूप वाला रहता हुआ असत् (शून्य) होते हुये ही प्रकाशित होता है। असत् को प्रकाशित करने की शक्ति ही अविद्या है।[2] अत्यन्त असत् वस्तु को अवभासित करने वाला ज्ञान विभ्रम कहा जाता है।

इसका खण्डन करते हुये कहा गया है कि भ्रम बन्ध्यापुत्र की तरह बिल्कुल असत् नहीं है, बल्कि रज्जु-सर्प की भाँति यह हमारे ज्ञान का विषय होता है। शंकराचार्य ने स्वयं कहा है कि अभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती।[3] यदि शून्यवादी कहते हैं कि जिस समय भ्रम की प्रतीति होती है, उस समय भी वह असत् ही है। इसके उत्तर में वेदान्ती कहते है, कि उपर्युक्त प्रश्न, भाव (positivity) और सत्ता (Reality) के भेद को न समझने के कारण उत्पन्न हुआ है। रज्जु -सर्प तात्त्विक तो नहीं है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वह भावात्मक भी नहीं हैं। भावात्मक होने के कारण बन्ध्या-पुत्र की भाँति वह पूर्णतया असत् नहीं है। बौद्ध कहते हैं कि ज्ञान में असत् को प्रकाशित करने की शक्ति है। इस

पर भामतीकार कहते हैं कि उस शक्ति का शक्य क्या हैं? अर्थात् उस शक्ति का उपयोग–स्थल क्या है? यदि कहा जाय कि असत् ही उसका शक्य है तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि वह असत् इस विज्ञान में रहने वाली शक्ति का कार्य है या विज्ञान का ज्ञाप्य है। यदि प्रथम विकल्प को स्वीकार किया जाय तो कार्य होने के कारण यह असत् नहीं हो सकता और यदि असत् है तो इसके कारण भूत शक्ति में प्रकाश सामर्थ्य कैसी? इसे ज्ञान द्वारा ज्ञाप्य भी नहीं माना जा सकता क्योंकि ''इदं रजतम्'' भ्रम के अतिरिक्त कोई अन्य असद् विषयक भ्रम इस शक्ति से उत्पन्न नहीं होता। ज्ञाप्यत्व या प्रकाश्यत्व का अर्थ है उस शक्ति द्वारा जनित ज्ञान का विषयत्व। जब उस शक्ति द्वारा जन्य ज्ञान से पृथक कोई विषय हैं ही नहीं, तो ज्ञाप्यत्व या प्रकाश्यत्व का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है? यदि कोई दूसरा ज्ञान हो तो उसके प्रकाश के लिए पुनः अन्य ज्ञान की अपेक्षा होने से अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी।

आत्मख्यातिवाद

विज्ञानवादी बौद्ध यद्यपि जगत् के पदार्थों को असत् या शून्य रूप नहीं मानते, तथापि वे उनकी बाह्य सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते। इनके मत में संसार के समस्त पदार्थ विज्ञानरूप है। क्षणिक विज्ञान संतति के अतिरिक्त संसार में किसी वस्तु का आस्तित्त्व नहीं है। इस सम्बन्ध में योगाचार विज्ञानवादियों की युक्ति यह है कि नील तथा नील ज्ञान में सहोपलभ्य नियम है : अर्थात् नील – ज्ञान से पृथक नील की उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः नील ज्ञान से स्वतन्त्र नील की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती।[4] इस कारण विज्ञानवाद में विज्ञान से पृथक बाह्य पदार्थों की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

विज्ञानवाद के अनुसार सभी कुछ विज्ञानरूप है।[5] आन्तरिक विज्ञान के रूप में ग्राहक व बाह्य विज्ञान के रूप मे ग्राह्य दिखाई

पड़ता है। इसके अतिरिक्त विज्ञानवाद की मान्यता है कि भ्रमकालीन रजत को असत्ख्यातिवाद की तरह असत् नहीं माना जाता। इसमें भ्रमकालीन रजत को सत् माना जाता है किन्तु इसे बाह्य रूप में सत् न मानकर विज्ञानरूप में ही सत् माना जाता है। विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञानकार (बुद्धिस्थ) रजत को बाह्य मान लेना ही भ्रम है। ज्ञान के द्वारा रजत के बाह्यत्व का ही बाध होता है, रजत का नहीं क्योंकि विज्ञानरूप से रजत सत् ही है। आन्तरिक रजत की बाह्य रूप में प्रतीति ही भ्रम है। अतएव भ्रम के इस सिद्धान्त को आत्मख्यातिवाद कहा जाता है। योगाचार मत में यद्यपि बाह्य वस्तु सत् नहीं है, तथापि अनादि अविद्या-वासना द्वारा आरोपित अलोक बाह्य पदार्थ माना जाता है। यही भ्रम है।

विज्ञानवादी बाह्य वस्तुओं के अस्तित्त्व को स्वीकार नहीं करते। अनके अनुसार बाह्य वस्तुये संस्कार जन्य होती है। पर शंकराचार्य इसका खण्डन करते हुये कहते हैं कि अभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती।[6] विज्ञान के आन्तरिक विषय ही बाह्य वस्तुओं की तरह प्रतीयमान होते हैं " यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व न होता तो उपर्युक्त कथन सम्भव ही नहीं होता। कोई भी समझदार व्यक्ति यह कहता हुआ नहीं पाया जाता कि विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्र के समान दिखाई पड़ रहा है।[7] शंकर के अनुसार यदि ज्ञान और वस्तुओं में अभेद सम्बन्ध न होकर कार्य कारण सम्बन्ध पाया जाता है तो तद्जन्य वासना की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि से ही अनेक प्रकार की वासनायें उत्पन्न होती हैं।[8] वस्तुओं को अनादि मानने पर भी अन्धपरम्परा-न्याय से व्यवहारलोपिनी अप्रतिष्ठित अनवस्था उत्पन्न होगी तथा इससे अभिप्राय की सिद्धि भी नहीं होगी।[9] अन्वय-व्यतिरेक विधि भी बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व का प्रतिपादन करती है। जब बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि नहीं होती तो उसके प्रति

वासना भी उत्पन्न नहीं होती। अतः बाह्य वस्तुओं का स्वतन्त्र अस्तित्व अनिवार्य है।

भ्रम के इस सिद्धान्त के विरूद्ध कहा जाता हैं कि इसके द्वारा भ्रम की समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि इसके आधार पर सत्यज्ञान और मिथ्याज्ञान के बीच भेद स्थापित नहीं किया जा सकता। विज्ञान के अतिरिक्त किसी बाह्य वस्तु की सत्ता न होने के कारण विज्ञान के सत्यत्त्व एवं मिथ्यात्त्व का निरूपण बाह्य वस्तु के आधार पर ही किया जाता है। दूसरी बात यह है कि यदि विज्ञानवाद को स्वीकार कर लिया जाय तो जाग्रत व स्वप्न में भेद ही समाप्त हो जायेगा। जब सब कुछ स्वप्नवत् ही है, तो सत्य क्या है? इसका निरूपण नहीं किया जा सकता। इसी बात को ध्यान में रखकर ही शंकराचार्य ने कहा है कि जाग्रत एवं स्वप्न की वस्तुओं में वैधर्म्य पाया जाता है[10] दोनो के बीच वैधर्म्य यह है कि स्वप्न प्रत्यय बाधित होता है पर जाग्रत प्रत्यय बाधित नहीं होता। स्वप्न की वस्तुयें व्यक्तिगत होती है, पर जाग्रत की वस्तुयें सार्वजनिक होती है। स्वप्न की वस्तुयें संस्कारजन्य या स्मृतिरूप हैं, पर जाग्रत की वस्तुओं का साक्षात् प्रत्यक्ष किया जाता है।

विज्ञानवाद ज्ञान को स्वयं प्रकाश मानता हैं उसके स्वयं प्रकाश होने में भ्रमात्मक ज्ञान की सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि भ्रमात्मक ज्ञान को स्वयं प्रकश न मानकर पर प्रकाश मानें तो या तो ज्ञान के स्वप्रकाशत्त्व सिद्धान्त की हानि होगी या फिर ज्ञान कभी प्रकाशित ही नहीं हो सकेगा। स्व संवेद्यत्त्व और परसंवेद्यत्त्व दोनों के परस्पर विरोधी होने के कारण ज्ञान मे इन दोनों धर्मो की एक साथ प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती।

यदि रजत विज्ञानरूप होता तो वह इदमाकाररूप में अनुभूत न होकर अहमाकार रूप में अनुभूत होता है इसका कारण यह है कि

विज्ञानवाद में ज्ञान तथा ज्ञाता में अभेद सम्बन्ध माना जाता है। भ्रम केवल संस्कार रूप ही नहीं होता वरन् बाह्य संसार में उसका एक अस्तित्व होता है। यदि भ्रम सुख-दुःख के समान मानसिक ही होता तो उसके निराकरण के लिए किसी बाह्य वस्तु के प्रत्यक्ष की आवश्यकता न होती। रज्जु-सर्प के निराकरण के लिए-प्रत्यक्ष की आवश्यकता होती है।

सदसत्ख्यातिवाद

इस मत के मुख्य समर्थक जैन दार्शनिक एवं उत्तर सांख्य है। नैयायिक और कुमारिल की भाँति ये भ्रम को अन्यथाज्ञान मानते है जिसमें बुद्धि दोष से दो भिन्न ज्ञानों और उसके विषयो को मिलाकर एक ज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

भ्रम मिथ्या ज्ञान है और सम्यक् ज्ञान से मिथ्याज्ञान का बोध होता है, वस्तुओं का नहीं। शुक्ति और रजत विभिन्न वस्तुओं के रूप में तथा शुक्ति ज्ञान और रजत ज्ञान विभिन्न वस्तुओ के रूप में सत्य है। किन्तु शुक्ति और रजत को मिलाकर शुक्ति के स्थान पर रजत का ज्ञान मिथ्या ज्ञान है, जो इन दो सत्यों के मिथ्या सम्बंध से उत्पन्न होता है। शुक्ति और रजत दोनों विषय तथा इनके अलग-अलग ज्ञान सत्य है। अतः सत्ख्याति है और इन सत्य वस्तुओं तथा ज्ञानों का सम्बन्ध मिथ्या है असत् है। अतः असत्ख्याति है दोनों को मानने के कारण यह सदसत्ख्याति है।

अन्यथाख्यातिवाद

नैयायिक इस बात को स्वीकार करते हैं कि सर्प स्मृतिमात्र नहीं है। उनका कथन यह है कि सर्प सत्य है और उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। किन्तु यह ज्ञान साधारण प्रत्यक्ष नहीं है, प्रत्युत् एक प्रकार का असाधारण प्रत्यक्ष है जिसे वे ज्ञान-लक्षणा-प्रत्यासत्ति कहते है। अतः इदं का सर्पवत् होना मिथ्या होते हुये भी सर्प सत्य है, सर्प कहीं अन्यत्र है। भ्रम भेदज्ञान का अभाव मात्र नहीं उसमें

अन्यथाख्याति है। इदं और सर्प का सम्बन्ध मात्र मिथ्या है न इदं मिथ्या है न सर्प। भ्रम निवारण का अर्थ यह है कि सर्प यहाँ नहीं है अन्यत्र है।

नैयायिक लोगों की यह विशेषता है कि वे सर्प को प्रत्यक्ष मानते हैं। परन्तु इदं और सर्प दोनों सत्य हैं तो उनके बीच का सम्बन्ध मिथ्या कैसे हो सकता है? दो सत् पदार्थो का सम्बन्ध भी सत् ही होगा। दूसरी बात यह है कि यदि सर्प अन्यत्र है तो वह यहाँ इस क्षण कैसे दिखाई देगा। जब हम यह कहते हैं कि सर्प मिथ्या हो तो यहाँ दिखाई पड़ने वाले सर्प को मिथ्या कहते हैं। अन्यत्र रहने वाले सर्प को नहीं। यदि सर्प कहीं अन्यत्र हो तो भी यहाँ दिखाई पड़ने वाला सर्प तो नहीं ही है। नैयायिकों के असाधारण प्रत्यक्ष को भी मान लिया जाय तो एक कठिनाई यह होगी कि अनुमान की आवश्यकता नहीं रहेगी और हम यह कह सकेगें कि धूम्र को देखने से अग्नि का असाधारण प्रत्यक्ष हो गया। इन्द्रियों से सन्निकर्ष न रखने वाली किसी दूरस्थ वस्तु का प्रत्यक्ष मानना नैयायिकों की असाधारण चाल है। अन्यथाख्यातिवादी को भी यह भ्रम तो मानना ही पड़ेगा कि जो असाधारण प्रत्यक्ष है वह साधारण प्रत्यक्ष की तरह से भासता है अर्थात् यहाँ पर ज्ञानाध्यास है।

सत्ख्यातिवाद

पूर्व व पश्चिम दोनों जगह कुछ दार्शनिकों का यह मत है कि मिथ्या–ज्ञान नाम की कोई वस्तु नहीं हैं। जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह सत् है "यथार्थ सर्वविज्ञानम्"। ज्ञान का विषय मिथ्या हो ही नहीं सकता है। रज्जु–सर्प और स्वप्नादि भी सत्य है। ऐसे विचार वालों को सत्ख्यातिवादी कहा जाता है। आचार्य रामानुज इसी मत के हैं और पाश्चात्य दर्शन में हेगल भी रामानुज ने पञ्चीकरण के सिद्धान्त के आधार पर 'सर्व सर्वात्मकम्' को स्वीकार

किया है। यदि रज्जु सर्पवत दिखाई पड़ती है तो रज्जु में सर्प का अंश है सर्प सर्वथा मिथ्या नहीं है।

विचार करने पर मालूम पड़ता है कि सत्ख्याति का सिद्धान्त असंगत है। प्रश्न यह है कि सभी ज्ञान पूर्णरूप से सत्य हैं या अंशतः? यदि अंशतः सत्य हैं तो कोई एक अंश असत्य हुआ। यदि सभी ज्ञान पूर्णरूप से सत्य है तो सर्वमान्य का विश्वास कि स्वप्नादि पदार्थ या रज्जु सर्प मिथ्या है यह मिथ्या सिद्ध हुआ। इतना ही नही सत्ख्यातिवादी को किसी अन्य सिद्धान्त को मिथ्या कहने का अधिकार नहीं रहेगा क्योंकि सभी ज्ञान सत्य है यदि यह कहा जाय कि अन्य सिद्धान्त ज्ञान नही बल्कि कल्पना मात्र हैं तो यह सिद्ध होगा कि हमारे मन में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य वृत्तियाँ भी हैं। तब यह कैसे निश्चित होगा कि कौन सी वृत्ति यथार्थ ज्ञान की है? अतः सत्ख्यातिवाद को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अख्यातिवाद

यह सिद्धान्त प्रभाकर का है। उनका भी कहना है कि सभी ज्ञान यथार्थ है। जिसे हम भ्रम कहते हैं वास्तव में वह किसी मिथ्यावस्तु का ज्ञान नहीं है बल्कि रज्जु और सर्प इन दोनों के भेद को न देखकर हम यह सर्प है ऐसा कह देते हैं। यह किसी दोष के कारण होता है। अतः दोष के कारण भेद के ज्ञान का अभाव हो सकता है किसी मिथ्या वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। किसी भी ज्ञान को मिथ्या कहना उसे ज्ञान न कहने के समान है जो कि आत्म विरोध है। शंकराचार्य ने अख्यातिवाद को इस प्रकार परिभाषित करने की चेष्टा की है। "शुक्त्यादि में जो रजतादि का, अध्यास कहा जाता है, वह वस्तुतः शुक्ति और रजत का भेद-ग्रहण न होने के कारण उत्पन्न होता है जिसके कारण 'इदं रजतम्' ज्ञान में भ्रमरूपता का व्यवहार होने लग जाता है।' अर्थात भ्रम का

वास्तविक कारण दो ज्ञानों व उनके विषयों में विवेक या भेद ज्ञान न होने के कारण उत्पन्न होता है।

प्रश्न यह है कि इदं और रजतं का अलग-अलग ज्ञान होता है? यदि कहा जाय कि होता है तब दोनों के भेद का ज्ञान क्यों नहीं होता? और दोनों का ज्ञान अलग-अलग नहीं होता है तब यह मानना होगा कि इदं रजतं यह एक ज्ञान है। दूसरी बात यह है कि यदि यह सर्प है या रजत है ऐसा ज्ञान न होता तो केवल भेद ज्ञान के अभाव से हम सर्प से डरते क्यों? और रजतं से आकृष्ट कैसे होते? ज्ञानाभाव से क्रिया कैसे हो सकती है। यदि यह कहें कि समानता के कारण क्रिया हो सकती है तो जहाँ भेद का ज्ञान नहीं वहाँ समानता का ज्ञान कैसे होगा? यदि सर्प को स्मृति माना जाता है तो दो प्रश्न उठते हैं। एक तो यह कि सर्प यदि स्मृति है तो दिखाई कैसे पड़ता है। और यदि यह कहें कि सर्प स्मृति होते हुये दिखाई पड़ता है तब यहाँ स्मृति और प्रत्यक्ष के विषय में भ्रम मानना पड़ेगा। यह कहना कि सर्प दिखाई नहीं पड़ता है सर्वथा अनुभव के विरूद्ध होगा। दूसरा प्रश्न यह है कि सर्प-विशेष जो यहाँ दिखाई पड़ता है वह स्मृति है तो उसे परिचित सा मालूम पड़ना चाहिये परन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता। प्रभाकर के लिए यह समझना कि सर्प इदं के रूप में कैसे मालूम पड़ता है कठिन है। भ्रम का जब निवारण होता है तब हम यह नहीं कहते हैं कि अरे सर्प तो स्मृति मात्र था। किन्तु यह कहते हैं कि हमने रज्जु को सर्प समझा था। इस प्रकार प्रभाकर मीमांसकों के मत में प्रत्यक्ष ज्ञान तथा स्मृति ज्ञान एवं उनके विषयों के बीच विवेक न होने के कारण ही ''इदं रजतम्'' भ्रम की उत्पत्ति होती है।[12] अतः प्रत्यक्ष और स्मृति में विवेक की अख्याति को ही ''अख्यातिवाद'' में भ्रम का कारण माना गया है। अख्यातिवाद के प्रतिकूल वेदान्तियों का प्रथम आक्षेप यह है कि प्रभाकर मीमांसा ज्ञान के

''त्रिपुटीप्रत्यक्षवाद'' में विश्वास करते है। जिसके अनुसार प्रत्येक ज्ञान स्वयंप्रकाश होता है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष और स्मृति तथा उनके विषयों के भेद का अज्ञान असम्भव हो जाता है। जब विवेकाग्रह असम्भव है तो अख्यातिवाद भी असम्भव है। प्रभाकर न तो ''अभाव'' के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और न ''उपलब्धि'' प्रमाण को ही। ''भूतले घटाभाव:'' का अर्थ भूतल का प्रत्यक्ष ही है। भ्रम में जब प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों तत्त्व उपस्थित है, तो उनके बीचभेद का भी ज्ञान हमें अवश्य होना चाहिये। अब प्रभाकर मतावलम्बी मीमांसक यह नहीं कह सकते कि प्रत्यक्ष और स्मृति के भेदाग्रह के कारण भ्रम की उत्पत्ति होती है। अत: चित्सुखाचार्य के अनुसार उनके दर्शन में आश्रयासिद्ध दोष पाया जाता है। प्रभाकर मीमांसकों का यह कहना भी ठीक नहीं है कि भ्रमात्मक ज्ञान ऐकिक ज्ञान न होकर दो ज्ञानों, प्रत्यक्ष और स्मृति का सम्मिश्रण होता है। ''इदं रजतम्'' इस वाक्य से एकाकार ज्ञान का बोध होता है, दो भिन्न-भिन्न ज्ञानों का नहीं। जब भ्रम में हमें शुक्ति के स्थान पर ''रजत'' का अनुभव होता है तो इस बात का कहीं भी संकेत नहीं मिलता कि ''रजत'' कभी हमारे पूर्व अनुभव का विषय रहा है। भूतकाल की ओर संकेत किये बिना ही यह कहना कि भ्रम में स्मृति का अंश होता है ठीक नहीं है क्योंकि यह संकेत ही स्मृति को प्रत्यक्ष से पृथक करता है। ''इदं रजतम्'' में 'इदम्' और 'रजतम्' दोनों ही प्रत्यक्ष के विषय होते हैं।

"इदं रजतम्" यह दो भिन्न ज्ञानों का समुच्चय नहीं वरन् एकाकार ज्ञान का ही प्रतिनिधित्व करता है। यदि ''इदं रजतम्'' एकाकार ज्ञान न होता तो ''यह रजत है'' ऐसा कहने के स्थान पर ''मै इसे देख रहा हूँ और रजत का स्मरण कर रहा हूँ' ऐसा कहा जाता। अत: इससे स्पष्ट है कि जो प्रत्यक्ष का विषय है, उसी में रजतत्त्व का भान होता है। अत: इदमाकार प्रत्यक्ष ज्ञान

तथा तत्ताकार स्मृति ज्ञान में केवल विवेकाग्रह ही नहीं है, अपितु इन दोनो में भावात्मक तादात्म्यीकरण भी है। इस भावात्मक तादात्मीयकरण के माने बिना रज्जु में सर्प-भ्रम से होने वाले भय, पलायन आदि व्यापारों की समुचित व्याख्या सम्भव नहीं है। अतः प्रत्यक्षात्मक भ्रम की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

विपरीतख्यातिवाद

भ्रम की व्याख्या करने के लिए भट्ट मीमांसक भ्रम की वस्तुवादी व्याख्या करने करने की चेष्टा करते हैं। जिसके अनुसार ज्ञान का एक निश्चित विषय होता है। ये भ्रम को दो ज्ञानों का सम्मिश्रण न मानकर ऐकिक ज्ञान के रूप में ही स्वीकार करते हैं। यह ठीक है कि भ्रम में एक प्रत्यक्ष का अंश तथा दूसरा स्मृति का अंश विधमान होता है, पर ये दोनों अंश पृथक् रूप में विद्यमान न रहकर संश्लिष्ट रूप में ही विद्यमान रहते हैं। भ्रम केवल विवेकाग्रह या भेदाग्रह के कारण ही उत्पन्न नहीं होता, वरन् विपरीताग्रह के कारण उत्पन्न होता है। भ्रम केवल निषेधात्मक ही नहीं है बल्कि इसके भीतर भावात्मक तत्त्व भी पाया जाता है। विपरीतख्यातिवादी प्रत्यक्ष-तत्त्व की स्मृति नामक आत्मनिष्ठ तत्त्व को स्वीकार कर अपने वस्तुवाद का परित्याग कर देते हैं।

विपरीतख्यातिवादियों का यह कथन ठीक नहीं है कि रजत के भ्रम में स्मृति होती है। वास्तव मे रजत का न तो असाधारण प्रत्यक्ष होता है और न उसकी स्मृति होती है। वह स्पष्ट रूप में हमारे समक्ष ही प्रत्यक्ष रूप में स्थित होता है[13] भ्रम का निवारण होने पर जब हम कहते हैं कि ''इदं रजतम्' अर्थात ''यह रजत नहीं है'' यह बाधक ज्ञान केवल एक देश और विशेष काल के रजत-ज्ञान को ही बाधित करता है, वह किसी अन्य देश और अन्य काल के रजत-ज्ञान को बाधित नहीं करता, क्योंकि प्रत्यक्ष में रजत के अन्य देश और अन्य काल के सम्बन्ध का हमें कहीं बोध

नहीं होता।[14] भ्रम का निराकरण होने पर हमें केवल यही बोध होता है कि "यह रजत नहीं है" हमें यह कदापि बोध नहीं होता कि "रजत अन्य देश और अन्य काल में स्थित है[15] जब शब्द ज्ञान द्वारा किसी व्यक्ति के भ्रम का निवारण होता है तो यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि भ्रम में किसी अन्य देश और काल की वस्तु का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। मान लिया कि एक व्यक्ति है जो भ्रम वश रस्सी को सर्प के रूप में देख रहा है। एक अन्य व्यक्ति जो उस वस्तु के समीप खड़ा है। प्रथम व्यक्ति के भ्रम का निवारण करने के लिए कहता है, "यह सर्प नहीं है।" इस शाब्दिक ज्ञान के द्वारा प्रथम व्यक्ति को उस स्थान पर सर्प के अभाव का ही ज्ञान होता है, उसे यह कदापि ज्ञान नहीं होता कि सर्प का अस्तित्व किसी अन्य देश या काल में है।[16]

अनिर्वचनीय ख्यातिवाद

शंकराचार्य ने वस्तुवादियों एवं विज्ञानवादियों से पृथक् अपने भ्रम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसे अनिर्वचनीयख्यातिवाद कहते हैं। इसके अनुसार अविद्या के कारण भ्रम-स्थल में एक अनिर्वचनीय वस्तु की उत्पत्ति होती है तथा उसी अनिर्वचनीय वस्तु की ख्याति भी होती है। इसी से शंकराचार्य कहते हैं कि **"सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां व्यभिचरति"**। अतः भ्रम में एक वस्तु के गुणों को अथवा एक वस्तु को दूसरे पर आरोपित करना ही अध्यास है। भ्रम में जो आरोपित वस्तु है उसे न तो स्मृति कह सकते है और न उसे अन्यत्र सत्य कह सकते हैं क्योंकि अधिष्ठान ज्ञान से इसका बाध हो जाता है। अस्तित्त्व मात्र से सत् होना उत्पन्न होना नहीं है[17] इसे पूर्णतया असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शराविषाण के समान पूर्णतया असत् होने पर उसकी प्रतीति भी नहीं हो सकती।[18] जो वस्तु हमारे ज्ञान का विषय बन सकती है, वह पूर्णतया असत् कैसे हो सकती है? वेदान्त के अनुसार भ्रम

का भी संसार में कुछ न कुछ अस्तित्व अवश्य होता है। जो असत् है, उसका अनुभव करना बिल्कुल असम्भव है।[19] भ्रम के विषय को सत् और न असत् कह सकते हैं, क्योंकि परस्पर विरोधी होने के कारण सदसत् की कल्पना ही वदतोव्याघात है। देश–काल स्वरूप संबंध सब रज्जु के होते हैं। सर्प में सत् अंश कुछ भी नहीं होता है। दिखाई पड़ने के कारण वह असत् भी नहीं हैं। अतः हमारे समक्ष केवल चौथा विकल्प ही शेष रहता है। जिसके अनुसार भ्रम विषय न सत् है और न असत् ही है वरन् सदसत्विलक्षण है। सदसत्विलक्षण होने के कारण ही इसे अनिर्वचनीय कहा जाता है। यह भ्रम स्थल में उत्पन्न अनिर्वचनीय वस्तु अज्ञानजन्य अस्थायी सृष्टि है। इस अनिर्वचनीय एवं प्रतिभासिक वस्तु की सृष्टि को माने बिना इसमें वर्तमानत्व एवं एतद्देश–विशिष्टत्व वाले प्रतिभास की व्याख्या सम्भव नहीं हैं। इस सम्बन्ध में भामतीकार वाचस्पति मिश्र कहते है कि भ्रम में प्रतीत होने वाली वस्तु को न सत् कहा जा सकता है न असत् और न सदसत् अतः मृगमरीचिका में अनिर्वच्य जल को ही मानना युक्त है।[20]

अद्वैत वेदान्त के अनुसार भ्रान्त–ज्ञान या भ्रम निर्विषयक या विषयहीन नहीं होता। भ्रम ज्ञान का भी विषय होता है। स्वप्न में भी ज्ञान के विषय रहते हैं। ये विषय वस्तुयें सत् से विलक्षण अनिर्वचनीय होती हैं। वे अज्ञान या अविद्या का कार्य होती हैं भ्रान्त ज्ञान का विषय स्मृति के विषय से इस बात में भिन्न होता है कि वह हमें सामने दिखाई देता है जब कि स्मृति का विषय अतीत अनुभव से सम्बद्ध होता है। जब भ्रम दूर होता है तो हमें यह ज्ञान होता है कि यह रजत नहीं है न कि यह कि भ्रान्त ज्ञान का विषय रजत किसी दूसरी जगह है जैसा कि अन्यथाख्यातिवादी मानते हैं। यह स्मरणीय है कि अद्वैत वेदान्त अनिर्वचनीयख्यातिवाद

को स्वीकार करता है जहाँ अरोप्य के होने पर वह अन्यथाख्याति को ही मानता है।

अनिर्वचनीयख्यातिवाद के विरूद्ध कई प्रकार की आपत्तियाँ उठायी जा सकती है। मध्यम परिहार के नियम के अनुसार कोई वस्तु या तो सत् या असत् होती है। उसके अतिरिक्त अनिर्वचनीय नाम की कोई चीज नहीं हो सकती। उत्तर है कि पहले मध्यम परिहार के नियम को मानना अनिवार्य नहीं है। विचार करने के बाद ही हम उसको स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हैं। सारी वस्तुओं को सत् या असत् दो ही वर्गो में बाँट देना तो इस बात का द्योतक है कि मानों हम विचार करके सब कुछ जान गये है।जहाँ अभी अन्वेषण कार्य चल रहा है वहाँ इस तरह का विभाजन नहीं हो सकता।

दूसरी आपत्ति यह भी है कि हम जो कुछ देखते हैं वह सत् है और हम सत् को ही देख सकते है। अतः सर्प सत् है। यह भी कहा जाता है कि व्यवहार में तो केवल सत् और असत् का ही प्रयोग होता है, किन्तु अनिर्वचनीय साधारण व्यवहार का शब्द नहीं है। यह दो दार्शनिक विवेचन की प्राप्ति है। विचार करने पर हम पाते हैं कि रज्जु–सर्प को हम न सत् कह सकते है और न असत् और न दोनों। अतः इसे अनिर्वचनीय कहा जाता है। वेदान्त की भाषा में अनिर्वचनीय को ही अर्थापत्ति के द्वारा प्राप्त करते हैं।

रज्जु–सर्प और जगत दोनों मिथ्या है परन्तु दोनों में भेद है। अतः रज्जु–सर्प को प्रातिभासिक एवं जगत् को व्यावहारिक कहा गया है। उन दोनों का भेद यह है कि प्रातिभासिक जब तक व्यक्तिगत् भ्रम है किन्तु व्यावहारिक (जगत) सर्वमान्य का भ्रम है। व्यावहारिक जगत दिखने के पहले और दिखने के बाद भी रहता है परन्तु प्रातिभासिक दिखता है तभी तक रहता है। व्यावहारिक का बोध किसी वस्तु विशेष के ज्ञान से नहीं होता, किन्तु ब्रह्म के ज्ञान

से होता है, परन्तु प्रातिभासिक के बाध के लिए वस्तु विशेष का ज्ञान पर्याप्त है। व्यावहारिक का ज्ञान प्रत्यक्षादि से होता है किन्तु प्रातिभासिक केवल साक्षी दृष्टि है। 'इदं रजतम्' में इदं का ज्ञान प्रत्यक्ष से और रजतम् का ज्ञान साक्षी से होता है।

अद्वैतवेदान्त में साक्षी की अवधारणा का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि साक्षी के द्वारा ज्ञात अज्ञात यथार्थ मिथ्या आदि सभी वस्तुयें प्रकाशित होती है। तर्कत: एक ऐसे चैतन्य को मानना आवयश्क है जिसे अज्ञात भी ज्ञात हो। जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तो हमको ऐसा लगता है कि वस्तु यहाँ थी किन्तु हमको उसका ज्ञान नहीं था अर्थात् वस्तु की उत्पत्ति ज्ञान के साथ ही नहीं होती है नहीं तो ज्ञान और कल्पना में भेद नहीं रह जायेगा। ज्ञान भूतवस्तुविषयक होता है और कल्पना से वस्तु की सृष्टि होती है। अत: वेदान्त मानता है कि प्रमाता की अज्ञात वस्तु भी साक्षी को ज्ञात रहती है। इसी तरह से प्रमाता द्वारा मिथ्या रूप से तिरस्कृत वस्तु भी साक्षी को आभासित होती है। साक्षी को सत्यासत्य के द्वैत का ज्ञान नहीं होता किन्तु साक्षी प्रमाता की प्रमाण वृत्तियों के अतिरिक्त अन्य वृत्तियों को भी प्रकाशित करता है। प्रमाता सोता है स्वप्न देखता है जागता है किन्तु साक्षी सदा जागरूक रहता है। उसके चैतन्य में ये सब भेद नहीं है। साक्षी का ज्ञान असीम और प्रमाता का ज्ञान सीमित है।

अनिर्वचनीयख्याति के विरूद्ध एक यह आशंका की जा सकती है कि अध्यास दो बाह्य वस्तुओं में हुआ करता है परन्तु आत्मा सम्बन्धी अध्यास में आत्मा कोई बाह्य वस्तु नहीं है फिर भी शरीर के साथ उसका अध्यास कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि यह कोई नियम नहीं है कि अध्यास में दोनों वस्तुयें हमारे सामने रहने वाले पदार्थ हों। दूसरी बात यह है कि आत्मा भी एक अर्थ में अहं प्रत्यय का विषय है। अध्यास वहीं होता है

जहाँ हमारा ज्ञान अपूर्ण रहता है। जैसे अयम् का ज्ञान तो रहता है किन्तु अयम् के रज्जु होने का ज्ञान नहीं रहता। आत्मा है इसका अपरोक्ष ज्ञान है किन्तु आत्मा अनंत है इसका अपरोक्ष ज्ञान नहीं है। इसी से आत्मविषयक जिज्ञासा को अवसर मिलता है। उन लोगो को जो प्रत्यक्ष वस्तुओं में ही अध्यास मानते है ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने यह भी कहा है कि आकाश के अप्रत्यक्ष होने पर भी लोग उस पर मालिन्य का आरोप करते हैं। अर्थात् अध्यास केवल प्रत्यक्ष वस्तु पर ही नहीं होता। अध्यास के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि अध्यास किसी वस्तु में वास्ताविक परिवर्तन नहीं है किन्तु केवल अविद्याजन्य है। अतः उसका नाश विद्या या विवेक से हो जाता है अर्थात् वस्तु में परिवर्तन न तो विद्या से होता है और न तो अविद्या से। अध्यास के कारण वस्तु में किसी प्रकार का गुण दोष उत्पन्न नहीं होता अर्थात् अध्यस्त वस्तु के गुणदोष अध्यासवान पर कोई प्रभाव नहीं डालते क्योंकि केवल आरोपण ही नहीं बल्कि जिसका आरोपण करते हैं वह भी मिथ्या है।

शरीर में विश्वास के बाद सभी व्यवहार प्रारम्भ होते है। हम सबका शरीर में विश्वास किसी प्रमाण के आधार पर नहीं होता बल्कि स्वयं सभी प्रमाण शरीर में विश्वास के आधार पर निर्भर है। इसलिए अध्यास अविद्याजन्य है उसे प्रमाण प्रमेय व्यवहार का आधार कहा गया है। यह आशंका कि प्रत्यक्षादि प्रमाण और श्रुति अविद्याजन्य कैसे हो सकते है? निराधार है। क्योंकि जिस व्यक्ति को अपने शरीर के विषय में अहं मम् भाव नहीं रहेगा उस व्यक्ति के लिए उपर्युक्त व्यवहार असम्भव है।

अध्यास के कारण हम बाह्य वस्तुओं का जैसे पुत्रादि का शरीर धर्मो का जैसे स्थूलता इन्द्रिय धर्मो का जैसे बहरापन अन्तःकरण धर्मो का जैसे इच्छा आदि का आरोप आत्मा पर करते

हैं और आत्मा का आरोप बाह्य वस्तुओं पर करते हैं। इस प्रकार हम परस्पर एक दूसरे का अध्यास करते है। यह अध्यास अनादि और अनंत किन्तु ब्रह्म ज्ञान द्वारा नष्ट होने वाला है। यह अध्यास अनादि कोई कारण नहीं हैं। अनादि शब्द से यह नहीं समझना चाहिये कि अध्यास कोई जान बूझकर उत्पन्न की हुई वस्तु है बल्कि नैसर्गिक है। यद्यपि वेदान्त में केवल ब्रह्म सीमा रहित है फिर भी अध्यास को अनन्त इसलिए कहा गया है कि यह अनन्त ब्रह्म विषयक है। इसलिए यह अध्यास भी अनन्त हो गया। यहाँ पर अध्यास का अर्थ हमारे जीवन में आने वाले रज्जु-सर्प नामक अध्यासों से नहीं है बल्कि मूलाध्यास है जो कि अनन्त है।

यह अध्यास सभी अनर्थो का कारण है। अतः इसका नाश आत्मविद्या द्वारा जो कि उपनिषदों से प्राप्त होती है, आवश्यक है। विवेक के आधार पर भी यह जान पड़ता है कि यदि सारे क्लेश भेद बुद्धि के कारण है तो उनका नाश अभेद बुद्धि आत्मैकत्व ज्ञान से ही होगा। ब्रह्म ज्ञान के उपरान्त यदि अविद्या का नाश न होता तो उसके बाद भी भक्ति आदि की आवश्यकता मानी जाती किंतु ऐसी बात नहीं है। अविद्या को सभी अनर्थो का मूल हेतु और विद्या अर्थात् आत्मज्ञान को उसके निवारण का साधन कहना ठीक ही है।

सन्दर्भ- ग्रन्थ- सूचिका

1 नैवाग्रं नावरं यस्य तस्य मध्यं कुतो भवेत्।
तस्मान्नोपपद्यन्ते पूर्वापर सहक्रमाः।।

मूलमाध्यमिक कारिका-11-2

2 विषयस्य समस्तसामर्थस्य विरहेऽपि ज्ञानमेव तत्तादृशं
स्वप्रत्यय सामर्थ्यासादितादृष्टान्तसिद्ध स्वभावभेदयुपजातमसतः
प्रकाशनं तस्माद्सत् प्रकाशनशक्तिरेवा विद्येति।

– भामती पृ0 22

3 नाभाव उपलब्धेः। शांकरभाष्य 2.2.28

4 सहोपलम्भ नियमादभेदो नीलद्वियो।
भेदश्चभ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दा विवाद्वेये।।

ब्रह्मसूत्र 2.2.28 में उद्धत

5 ''यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वत् अवभासते।''

दिड.नाग, आलम्बन–परीक्षा

6 नाभाव उपलब्धेः शांकरभाष्य–2.2.28

7 इतरया हिं कस्माद् बहिर्वदिति ब्रूयुः। न हि विष्णुमित्रो बन्ध्या पुत्रवदवभासत इति कश्चिदाचक्षीत्।

शांकर भाष्य– 2.2.28

8 न भावोऽनुपलब्धेः। ब्रह्मसूत्र– 2.2.30

9 अनादित्वेऽप्यन्ध परस्परान्यायेनाप्रतिष्ठेवान्वस्था व्यवहारलोपिनी स्थन्नाभिप्रायसिद्धिः।

वही शांकरभाष्य।

10 वैधर्म्याच्च स्वप्नादिवस् । ब्रह्मसूत्र–2.2.29

11 यत्र यदध्यायसस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रमः।

अध्यास भाष्य।

12 ज्ञानयोः विषयोश्च विवेका ग्रहात् भ्रमः।

प्रकरणपञ्जिका–पृ0 43

13 पुरोवस्थितत्वेनावभासमानत्वात् । विवरणप्रमेय संग्रह पृ0 92

14 नेदं रजतमिति विशिष्ट देश–कालः सम्बन्धं रजतं विलोपयदेवोदेति, न देशान्तर सम्बन्धमापादयति तथावगमात्।

पञ्चपादिका भाष्य पृ0–245

15 नेदं रजतम् किन्तु देशकालान्तरे बुद्धो वेत्यनवगमदिति भावः।

विवरण भाष्य– पृ0 245

16 दूरवर्तिनी रज्जुं सर्पमान्यमानः तन्निकटवर्तिनाऽप्तेन 'नायं सर्पः' इत्युक्ते सर्पाभावभागं प्रतिपद्यते, न तस्य देशान्तरवर्तित्वं, तत्प्रतिपत्तावसामर्थ्याद् वाक्यस्य।

विवरण भाष्य- पृ0 245

17 न सत्तासामान्ययोगित्वम् प्रकाशमानतामात्रं वा सत्वम्। भामती

18 यन्नास्ति तन्नोपलभ्यते यथा शशविषाणादि। तैत्ति0उप0 2/6

19 नासतो जातं किंचिद् गृह्यते लोके कायम् । तैत्ति0 उप0 2.6.6

20 तस्मान्न सत्, नाप्यसत्, नापि सदसत् परस्पर विरोधादित्य निर्वाच्यमेवा आरोपणीयं मरीचिषु तोयमा स्थेयम्। भामती पृ0-23

21 नन्दकिशोर देवराज कृत भारतीय दर्शन पृ0 541

22 यत्रारोप्यमसन्निकृष्टं तत्रैव प्रातिभासिक वस्तूत्पत्तेरंगीकारात्। वेदान्त परिभाषा पृ0- 138

षष्टम अध्याय

प्रामाण्यवाद

षष्टम अध्याय

प्रामाण्यवाद

परिचय

दर्शनशास्त्र में प्रामाण्य और अप्रामाण्य को 'स्वतः' या 'परतः' मानने की चर्चा बहुत प्राचीन समय से चली आ रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि इस चर्चा का मूल आधार वेदों की प्रामाणिकता[1] को स्वीकार करने वाले और उसके प्रामाण्य को न मानने वाले दो वर्गो में पाया जाता है। वैदिक यज्ञों में होने वाली पशुहिंसा आदि को देखकर जैन, बौद्ध आदि विद्वान वेदों के प्रामाण्य का विरोध करने लगे, उसी समय न्याय-वैशेषिक और मीमांसक दार्शनिकों ने हर तरह से वेदों के प्रामाण्य का समर्थन किया, उसके समर्थन में शास्त्रार्थ होने लगे और बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचनायें हुई। सर्वप्रथम इस विवाद का मुख्य विषय 'शब्द' प्रमाण ही रहा, पर तर्क के क्षेत्र में आते ही इस विवाद ने व्यापक रूप धारण कर लिया और सभी ज्ञानों के विषय में उसके प्रामाण्य या अप्रामाण्य के स्वतस्त्व ओर परतस्त्व पर विचार किया जाने लगा। क्रमशः स्वतस्त्व ओर परतस्त्व की चर्चा का इतना अधिक विकास हुआ कि सभी दर्शनों में उत्पत्ति, ज्ञप्ति और स्वकार्य को लेकर स्वतः और परतः का विवेचन अनिवार्य समझा जाने लगा।

सर्वप्रथम इस प्रामाण्य की चर्चा किस आचार्य ने आरम्भ की यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है, किन्तु भारतीय दर्शन के ग्रन्थों के अनुशीलन से यह अवश्य प्रतीत होता है कि वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करते हुए संभवतः सर्वप्रथम जैमिनि मुनि ने 'मीमांसासूत्र' में प्रामाण्यवाद के विचार का बीज-वपन[2] किया था। शाबरभाष्य में यही बीज अंकुरित हुआ और कुमारिल भट्ट के 'श्लोकवार्त्तिक' में इसने पल्लवित होकर एक विशाल वृक्ष का रूप

धारण कर लिया।[3] यद्यपि वात्स्यायन भाष्य के 'प्रामाण्यतोऽर्थअप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्' इस कथन में भी प्रामाण्यवाद के विचार का संकेत उपलब्ध होता है, तथापि इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि सर्वप्रथम मीमांसा दर्शन में ही प्रामाण्यवाद सम्बन्धी विचार का आरम्भ किया गया था। चाहे शाबरभाष्य, वात्सायनभाष्य से अर्वाचीन भी हो, फिर भी मीमांसासूत्र अवश्य ही वात्स्यायन से प्राचीन है और उसमें ही प्रामाण्यवाद का बीज निहित है। न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने स्पष्ट शब्दों में यह बतलाया है कि जैमिनी-सम्प्रदाय में शब्द के प्रमाण का विचार करते हुए ज्ञान मात्र के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का विवेचन आरम्भ किया गया-

प्रमाणत्वं तु शब्दस्य कथमित्यत्र वस्तुनिम्।
जैमिनीयैरयं तावत्पीठबन्धो विधीयते।।
प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा सर्वविज्ञानगोचरः।
स्वतो वा परतो वेति प्रथमं प्रविविच्यताम्।।

उल्लेखनीय है कि वैशेषिक, सांख्य-योग तथा वेदान्त आदि वैदिक सम्प्रदायों में मीमांसा-सम्प्रदाय के पश्चात् ही प्रामाण्यवाद का निरूपण आरम्भ हुआ और इसी प्रकार वौद्ध तथा जैन आदि अवैदिक दर्शनों में भी। आठवीं सदी के अनन्तर लिखें जाने वाले टीका ग्रन्थों तथा मौलिक प्रकरण-ग्रन्थों में तो प्रामाण्यवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया। फलतः उत्तरकालीन सभी दार्शनिक ग्रन्थों में संक्षेप या विस्तार से प्रामाण्यवाद का निरूपण उपलब्ध होता है। आचार्य गंगेश उपाध्याय के नव्य-न्याय (तर्कशास्त्र) में तो प्रामाण्यवाद के विवेचन ने अत्यन्त जटिल रूप धारण कर लिया है। 'तत्त्वचिन्तामणि' और गदाधर के प्रामाण्यवाद इत्यादि ग्रन्थों में प्रामाण्यवाद का सूक्ष्मता के साथ तर्कशास्त्र की शैली में विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है।

प्रामाण्यवाद-संबन्धी विभिन्न मत

दार्शनिकों ने ज्ञान के स्वरूप तथा ज्ञान प्राप्ति के साधन प्रमाणों के निरूपण के साथ-साथ ज्ञान की यर्थाथता (प्रामाण्य) और अयथार्थता (अप्रामाण्य) के विषय में गंभीरतापूर्वक विचार किया है। ज्ञानों के प्रामाण्य के विषय में मुख्य रूप से प्रश्न यह है कि ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः होता है या परतः।

स्वतस्त्व और परतस्त्व मुख्यरूप से दो प्रकार का माना गया है- उत्पत्तिकृत और ज्ञप्तिकृत। उत्पति में स्वतस्त्व का अर्थ यह है कि ज्ञान को उत्पन्न करने वाली जो सामान्य सामग्री है उसी से ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है, उसके लिए किसी अतिरिक्त सामग्री की आवश्यकता नहीं होती।[4] ज्ञप्ति में स्वतस्त्व का यह अभिप्राय यह है कि जिस साधन से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी के द्वारा के प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है।[5]

इसके विपरीत नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति केवल इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से हो जाती है, किन्तु उसमें प्रामाण्य गुणों के कारण उत्पन्न हुआ करता है, क्योंकि जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी से प्रामाण्य की उत्पत्ति हो जाया करती तो कभी भ्रम ही नहीं हुआ करता। अतः प्रामाण्य उत्पत्ति में पराश्रित होता है। ज्ञप्ति में भी वह पराश्रित होता है, क्योंकि ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से होता है और उसके प्रामाण्य का ग्रहण प्रवृत्ति की सफलता से होता है। प्रमाण का कार्य वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान कराना है, उसमें भी वह तभी समर्थ हो सकता है जब उसके प्रामाण्य का निश्चय हो जाय। इस प्रकार प्रामाण्य, उत्पत्ति, ज्ञप्ति तथा अपने कार्य में पराश्रित है अर्थात् उसका प्रामाण्य परतः होता है।

न्याय के अनुसार कहीं तो व्यक्ति जल आदि का ज्ञान होने पर उसके प्रामाण्य का निश्चय करके, जल आदि के ग्रहण (उपादान) में प्रवृत्त होता है और कहीं (प्रामाण्य के निश्चय के बिना ही) सन्देह से प्रवृत्त होकर, जल आदि की प्राप्ति होने पर प्रामाण्य का निश्चय करता है। मीमांसकों के अनुसार प्रवृत्ति से पहले ज्ञान–ग्रहण के साथ–साथ प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है और तब प्रवृत्ति होती है।

न्याय–वैशेषिक अनुभव को यथार्थ और अयथार्थ दो प्रकार का मानते हैं। जब हमें अनुभव होता है तो अनुभव होने की अवस्था में ही नहीं कहा जा सकता है कि वह अनुभव यथार्थ है या अयथार्थ। उसकी यथार्थता और अयथार्थता का पता बाद में चलता है। यदि उस ज्ञान के बाद हमारी प्रवृत्ति समर्थ (सफल) होती है अर्थात जाने हुए अर्थ की उपलब्धि हो जाती है जैसे कि पानी के ज्ञान के पश्चात् यदि पिपासा शान्त करने वाला जल प्राप्त हो जाता है तो उस ज्ञान की यथार्थता का निश्चय हो जाता है और यदि प्रवृत्ति सफल नहीं होती अर्थात् पानी की उपलब्धि नहीं होती, तो ज्ञान की अयथार्थता का निश्चय हो जाता है। कभी–कभी अभ्यास होने की दशा में प्रवृत्ति से पूर्व भी सफल ज्ञान की समानता के आधार पर ज्ञान के प्रामाण्य का अनुमान कर लिया जाता है, परन्तु दोनों दशाओं में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का ग्रहण परतः (अनुमान द्वारा) ही होता है।

मीमांसक कहते हैं कि किसी वस्तु का ज्ञान होने के साथ–साथ ही, उस ज्ञान के प्रामाण्य का भी निश्चय हो जाता है और तभी प्रवृत्ति होती है। उनका अभिप्राय यह है कि अर्थ का बोध कराना ही ज्ञान की प्रामाणिकता है अतः सभी ज्ञान स्वभावतः प्रामाणिक होते हैं और उनका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। किन्तु यदि किसी ज्ञान को बाधित करने वाला दूसरा ज्ञान हो जाता है अथवा

उसके कारण में दोष की प्रतीति होती है तो वह ज्ञान प्रामाणिक नहीं रहता, उसे अयथार्थ मान लिया जाता है। इस प्रकार बाध-ज्ञान और कारण-दोष ज्ञान के द्वारा किसी ज्ञान के अप्रामाण्य का निश्चय होता है। अतः कुमारिल मीमांसक के मत में अप्रामाण्य परतः माना जाता है।

वेदान्त भी मीमांसक के समान ही यह स्वीकार करता है कि प्रामाण्य स्वतः होता है, अप्रामाण्य परतः।

बौद्धों का मन्तव्य मीमांसकों से नितान्त भिन्न है। उनका कथन है कि ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय प्रवृत्ति का कारण नहीं होता अपितु मनुष्य संशयमात्र से भी किसी उपाय में प्रवृत्त हो जाता है, केवल उसे यह निश्चय होना चाहिए कि इस उपाय से अमुक फल की सिद्धि हुआ करती है, जैसे कृषक जानता है कि बीज बोने आदि से फलवती (सफला) कृषि होगी, उसे इस ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय नहीं होता, फिर भी उसकी प्रवृत्ति हुआ करती है। बौद्ध के अनुसार सभी ज्ञान स्वभाव से अप्रामाणिक और भ्रमपूर्ण हुआ करते हैं, उनकी यथार्थता अर्थक्रिया-प्राप्ति से होती है। यदि उन ज्ञानों से अर्थक्रियाकारी वस्तु की प्राप्त हो जाती है तो वे ज्ञान प्रमाण होते हैं अन्यथा अप्रमाण कहलाते हैं।[6] इस प्रकार साधरणतया यह समझा जाता है कि बौद्धो के अनुसार ज्ञानों का अप्रामाण्य स्वतः होता है और प्रामाण्य परतः किन्तु कमलशील ने 'तत्त्वसंग्रहपञ्जिका' में बौद्धों के मन्तव्य का जैसा निर्देश किया है, उसके अनुसार बौद्धों को अनियम-पक्ष अभीष्ट है अर्थात् प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही कहीं-कहीं स्वतः होते हैं और कहीं-कहीं परतः।[7] अर्थक्रियाकारी ज्ञान और अभ्यासदशा में होने वाले ज्ञान में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का स्वतः ही निश्चय हो जाता है, अन्य ज्ञानों में परतः निश्चय हुआ करता है।[8]

जैनदर्शन के अनुसार प्रेक्षावान् जनों के निश्चित प्रमाण द्वारा ही प्रवृत्ति हुआ करती है, किन्तु अन्य जनों की कहीं-कहीं संशय आदि से भी प्रवृत्ति देखी जाती है।[9] अतः ज्ञानों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही कहीं स्वतः होते हैं, कहीं परतः। अभ्यासदशा में जो ज्ञान होता है, उसमें स्वतः ही प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय हो जाता है किन्तु अन्यत्र ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निश्चय परतः होता है।[10] डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का कथन है कि जैन दार्शनिक अपने अनेकान्तवाद के अनुसार यह मानते हैं कि ज्ञान स्वरूपतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही हो सकता हैं अर्थात् एक ही ज्ञान एक दृष्टि से 'प्रमाण' ओर दूसरी दृष्टि से 'अप्रमाण्य' हो सकता है।[11]

सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार सांख्य के मत में ज्ञानों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य सर्वत्र ही स्वतः हुआ करता है।[12]

संक्षेप में प्रामाण्य के विषय के दार्शनिकों में निम्नलिखित मत हैं :-

1. न्याय-वैशेषिक – प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों परतः।
2. सांख्य योग – प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः।
3. पूर्व मीमांसा – प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य परतः।
4. वेदान्त दर्शन – प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य परतः।
5. बौद्ध दर्शन – i. प्रामाण्य परतः अप्रामाण्य स्वतः।
   ii. प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों कहीं स्वतः और कहीं परतः। (कमलशील, शान्तिरक्षित आदि)
6. जैन दर्शन – प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों उत्पत्ति की दृष्टि से परतः
   प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनो ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतः।

पूर्वमीमांसा का प्रामाण्यवाद

पूर्वमीमांसा के कुमारिल सम्प्रदाय के प्रामाण्यवाद का निरूपण करने से पहले यह आवश्यक है कि मीमांसा के आधारभूत मौलिक सिद्धान्त का संक्षिप्त निरूपण कर दिया जाय। वेदों के ब्राह्मण-भाग में और वेदाङ्ग श्रौतसूत्रों में जिस यज्ञसम्बन्धी कर्मकाण्ड का निरूपण है उस कर्मकाण्ड का तथा ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड सम्बन्धी वाक्यों का विशद विवेचन ही पूर्वमीमांसा का उद्देश्य है। इस शास्त्र के अनुसार मानव-जीवन का उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति है जो अनेक प्रकार के यज्ञों के अनुष्ठान से होती है। उन यज्ञों का निरूपण वेद (ब्राह्मण-भाग) में है। यज्ञ आदि का स्वरूप और उनके द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होना, इस प्रकार के विषयों का ज्ञान इन्द्रियों पर आश्रित प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से तो संभव ही नहीं, क्योंकि यह सब विषय प्रत्यक्ष से सर्वथा अगम्य है। अतएव इन विषयों के ज्ञान का और कोई साधन संभव ही नहीं, एकमात्र वेद ही इन विषयों के ज्ञान का प्रमाण है।

वेद अनादि तथा नित्य है, वेद किसी मनुष्य के बनाये नहीं, यहाँ तक कि ईश्वर के बनाये भी नहीं हैं। वे अपौरूषेय हैं अर्थात् वे किसी 'पुरूष' के बनाये नहीं- चाहे वह मनुष्य हो अथवा ईश्वर (क्योंकि ईश्वर भी तो एक पुरूष विशेष ही है)। वेद अनादि काल से चले आ रहे हैं तथा नित्य हैं, इस प्रकार के नित्य वेद-ग्रन्थों में जो यज्ञ आदि का निरूपण है, वह सर्वथा प्रामाणिक है, यथार्थ है। क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण है, उनकी प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। यहाँ प्रश्न यह होता है कि किसी ज्ञान के यथार्थ होने की कसौटी क्या है? मीमांसक उस कसौटी की स्थापना अपने उर्पुक्त मुख्य सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर करते हैं और उसके आधार पर ही वेदों का स्वतः प्रामाण्य स्थापित करते हैं।

जैमिनी का मीमांसासूत्र और बादरायण का ब्रह्मसूत्र षड्वैदिकदर्शनों में सर्वाधिक प्राचीन है। ब्रह्म सूत्र और मीमांसासूत्र में एक दूसरे का संकेत (Cross reference) होने से प्रतीत होता है कि वे समकालिक ग्रन्थ हैं। बादरायण के ब्रह्म सूत्रों और गौतम के न्यायसूत्रों में शून्यवाद का खण्डन किया गया है, श्चेरबात्स्की के मत से उन सूत्रों में विज्ञानवाद का भी खण्डन उपलब्ध होता है। जैकोबी का कथन है[13] कि शून्यवादी माध्यमिक सम्प्रदाय और विज्ञानवादी योगाचार (बौद्ध) दोनों ही दार्शनिक सम्प्रदाय बाह्य जगत् की सत्ता का निषेध करते हैं, इसलिए शून्यवाद का खण्डन विज्ञानवाद के खण्डन के समान ज्ञात होता है और वास्तव में ब्रह्म सूत्र आदि में शून्यवाद का ही खण्डन है। शून्यवाद के प्रारम्भ का समय ईसा की प्रथम या द्वितीय शती है। अतः ब्रह्म सूत्र और मीमांसासूत्रों का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी के बाद तृतीय शताब्दी के आस-पास माना जा सकता है।

जैमिनिसूत्रों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि उनमें प्रामाण्यवाद का विचार नहीं किया गया, केवल इतना दिखलाया गया है कि धर्म में वेद की विधि (चोदना) ही प्रमाण है 'औत्पत्तिकस्तु0--'[14] इत्यादि मीमांसासूत्र में सूत्रकार ने वेद की प्रामाणिकता में अनपेक्षता को हेतु रूप में प्रस्तुत किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि अनपेक्ष होने से ज्ञान प्रमाण होता है। उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि में बादरायण की सम्मति भी प्रस्तुत की है -तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। शाबरभाष्य में इस बात को कुछ और स्पष्ट किया गया है। वस्तुतः प्रामाण्यवाद का बीज शाबरभाष्य में पाया जाता है।

जैमिनी सूत्रों पर सबसे प्रामाणिक एवं प्राचीन भाष्य शबर स्वामी रचित है जो शाबरभाष्य कहलाता है। शाबरभाष्य में 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस जैमिनी सूत्र की व्याख्या करते हुए वेद

की विधि ही धर्म में प्रमाण है अन्य इन्द्रिय आदि नहीं, यह बतलाया गया है तथा यह भी निरूपण किया गया है कि वेद ही धर्म में निरपेक्ष प्रमाण है- 'न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति'।[15] इसके अतिरिक्त तत्प्रमाणमनपेक्षत्वात् इत्यादि जैमिनीसूत्र के अंश का भाष्य करते हुए शाबरभाष्य में दिखलाया गया है- तस्मात्तत्प्रमाणमनपेक्षत्वात्। न ह्येवं सति प्रत्ययान्तरम् अपेक्षितव्यम् पुरूषान्तरं वाऽपि, स्वयं प्रत्ययों ह्येसौ।[16] अर्थात वेदविधि से उत्पन्न ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि किसी की अपेक्षा नही रखता, ऐसा ज्ञान होने पर अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं करनी होती और न ही अन्य पुरूष की, क्योंकि ज्ञान स्वयं प्रमाण है। इसी सूत्र के भाष्य में अन्य स्थल पर भी ऐसा झलकता है कि भाष्यकार ने अस्पष्ट से शब्दों में ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य एवं परतः अप्रामाण्य का उल्लेख किया है-

'कथं दुष्टादुष्टावगम इति चेत्, प्रयत्नेनान्विच्छन्तो न चेद्दोषमगच्छेम, प्रमाणाभावाददुष्टमिति मन्येमहि। तस्मात् यस्य च दुष्टं करणम्, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनः प्रत्ययः नान्य इति।''[17] अर्थात 'ज्ञान के दोषयुक्त (अयथार्थ) और दोषरहित (यथार्थ) होने का बोध कैसे होता है? प्रयत्न से अन्वेषण करते हुए भी यदि दोष नही दिखाई देता तो (दोष के होने में) कोई प्रमाण न होने के कारण ज्ञान दोषरहित (यथार्थ) है, ऐसा समझ लेते है। इसलिए जिस ज्ञान का कारण दोषयुक्त होता है और जिस ज्ञान में 'यह मिथ्या है' इस प्रकार का बाध-ज्ञान हो जाता है वही अयथार्थ- ज्ञान कहलाता है अन्य नही।'

भाष्य के इस विवेचन से यह प्रकट होता है कि कारणदोष और बाधकज्ञान के आधार पर ही किसी ज्ञान को अयथार्थ मान लिया जाता है अन्यथा सभी ज्ञान यथार्थ समझे जाते है। इस प्रकार के विवेचनों के आधार पर ही मीमांसा सम्प्रदाय में आगे चलकर

स्वतः प्रामाण्यवाद के सिद्धान्त का विकास हुआ है। फिर भी यह मानना पड़ता है कि शाबरभाष्य में भी प्रामाण्यवाद का स्पष्ट रूप से विवेचन नही किया गया है।

शबर स्वामी के अनन्तर भारतीय दर्शन में संघर्ष और विकास का युग आया, जिसमें वैदिकदर्शन का बौद्धदर्शन के साथ महान संघर्ष हुआ, इस संघर्ष में मीमांसा सम्प्रदाय की ओर से कुमारिल और प्रभाकर ने दिडनाग सम्प्रदाय पर जोरदार आक्रमण किया और मरणासन्न वस्तुवाद (Realism) में पुनः नवजीवन का संचार किया। इन दोनों आचार्यो ने मीमांसा दर्शन में यज्ञ और कर्मकाण्ड के साथ-साथ दार्शनिक विचारों का भी समावेश किया। फलतः मीमांसा-दर्शन में अनेक नवीन दार्शनिक सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ।

बौद्ध जनश्रुति में यह प्रचलित है कि कुमारिल धर्मकीर्ति के समकालीन थे। धर्मकीर्ति ने कुमारिल को पराजित करने के लिए मीमांसा के सिद्धान्तों को गहराई से समझने के लिए, ब्राह्मण का वेष धारण किया और ब्राह्मण वेष में सारे मीमांसा के सिद्धान्तों को कुमारिल से पढ़ा और बाद में कुमारिल को पराजित किया। परन्तु इस जनश्रुति को सत्य मानने के लिए हमारे पास कोई प्रामाणिक आधार नही है। धर्मकीर्ति का समय सातवीं शती का मध्य काल है और कुमारिल का समय भी लगभग यही माना जाता है। इस काल-निर्णय के आधार पर धर्मकीर्ति और कुमारिल दोनों समकालीन हो सकते हैं। प्रभाकर भी कुमारिल के समकालीन ही माने जाते है।

कुमारिल और प्रभाकर के ग्रन्थों में सामान्य रूप से सांख्य और न्याय आदि के प्रामाण्य-विषयक मतों का भी निराकरण किया गया है,[18] परन्तु विशेष रूप से बौद्धों के सिद्धान्त का खण्डन किया गया है। कुमारिल व प्रभाकर दोनो स्वतः प्रामाण्य और परतः

अप्रामाण्य के समर्थक हैं, तथापि उनके ज्ञानसिद्धान्त और प्रामाण्य विषयक मन्तव्यों में पर्याप्त अन्तर है।

कुमारिल भट्ट द्वारा स्वतः प्रामाण्य की स्थापना

कुमारिल भट्ट ने यह स्थापना की है कि प्रामाण्य स्वतः होता है और अप्रामाण्य परतः। उन्होनें प्रमाणों का अप्रामाण्य उत्पति, कार्य तथा ज्ञप्ति तीनों में ही स्वतः माना है[19] यद्यपि उन्होनें उत्पत्ति में स्वतस्त्व इत्यादि इन शब्दों का प्रयोग नही किया, जिसका बाद के आचार्यो ने उनके मत का निरूपण करते हुए किया हैं, तथापि श्लोकवार्त्तिक के उद्धरणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुमारिल भट्ट को उत्पत्ति, कार्य और ज्ञप्ति तीनों में ही स्वतः प्रामाण्य अभीष्ट था।

उत्पत्ति में स्वतस्त्व

उत्पत्ति में स्वतस्त्व[20] का अर्थ यह है कि 'ज्ञान को उत्पन्न करने वाली जो सामान्य सामग्री है, उसी से ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है, उसके लिए किसी अतिरिक्त सामग्री की आवश्यकता नही होती। उत्पत्ति में प्रामाण्य का स्वतस्त्व है, यह बात श्लोवार्त्तिक की निम्न कारिका से प्रकट होती है-

स्वतः सर्वप्रामाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्त्तुमन्येन पार्यते।।[20]

जिसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थ में प्रतिनियत शक्तियॉ होती है, जब कारणों के द्वारा उस पदार्थ की उत्पत्ति होती है तभी वे शक्तियॉं उत्पन्न होती है जैसे कपालों से घट की उत्पत्ति होती है तो कपालों के रूप में आदि धर्म घट में उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु जल लाने आदि की शक्ति जो कपालों में नही थी, यह घट में स्वतः ही प्रादुर्भूत हुआ करती है। इसी प्रकार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जब ज्ञान उत्पन्न होता है तो अर्थबोध की शक्ति ज्ञान में स्वतः ही प्रादुर्भूत हो जाती है अन्य

किसी के द्वारा वह ज्ञान में उत्पन्न नही की जाती। कुमारिल मीमांसक के मत में अर्थबोधकत्व ही प्रामाण्य है अतः प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है।

जो नैयायिक आदि यह कहते हैं कि चक्षु की निर्मलता आदि के गुणों के द्वारा ही ज्ञान में यर्थाथता की उत्पत्ति हुआ करती है, उनको उत्तर देते हुए मीमांसक कहते हैं कि गुणों के निमित्त से यर्थाथता नही होती, अपितु दोषों के अभाव मात्र से ज्ञान में यर्थाथता हो जाती है। यदि गुणों के निमित्त से ही ज्ञान में यर्थाथता हुआ करती तो पीलिया रोग से युक्त नेत्र द्वारा जो 'शंख पीला है' यह ज्ञान होता है वह ज्ञान शंख अंश में भी सत्य न होता, क्योंकि वहाँ नैर्मल्य आदि गुणों का अभाव ही है।[22] मीमांसक के मतानुसार तो वहाँ ज्ञानोत्पादक सामान्य सामग्री से शंखज्ञान होता है वह यर्थाथ ही है किन्तु पित्त-दोष के कारण शंख में पीतता की मिथ्या-प्रतीति हो जाती है। इस प्रकार मीमांसक की स्थापना है कि अर्थ का बोधक होने से प्रत्येक ज्ञान प्रमाण होता है।[23]

कार्य में स्वतस्त्व

प्रमाण अपने कार्य में निरपेक्ष होता है, यह दिखलाते हुए 'श्लोकवार्त्तिक' में बतलाया गया है कि सभी पदार्थ अपनी उत्पत्ति के लिए अपने कारण की अपेक्षा रखते हैं, अपना काम करने के निए नही। जब वे अपने कारणों से उत्पन्न हो जाते है तो स्वयं ही अपने कार्य में प्रवृत्त हो जाया करते हैं-[24] इसकी व्याख्या करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने दिखलाया है कि जिस प्रकार घड़ा अपनी उत्पत्ति के लिए मिट्टी आदि की अपेक्षा रखता है किन्तु उत्पन्न होने के बाद जल लाना रूप अपने कार्य के लिए किसी की अपेक्षा नही रखता, उसी प्रकार ज्ञान भी अपनी उत्पत्ति के लिए गुणवान् या गुणरहित कारणों की अपेक्षा रखता है किन्तु विषय का निश्चित करना जो ज्ञान का अपना कार्य है उसके लिए वह किसी अन्य

कारण की अपेक्षा नही रखता, इस प्रकार प्रमाण अपने अर्थपरिच्छेद रूप कार्य में निरपेक्ष होता है।

ज्ञप्ति में स्वतस्त्व

'श्लोकवार्त्तिक' में प्रामाण्य की स्वतोग्राहयता का विवेचन करते हुए यह बतलाया गया है कि किसी वस्तु का ज्ञान न होने पर दोष के अभाव आदि को नही खोजा जाता, और दोषों का ज्ञान न होने मात्र से अनायास ही ज्ञान की अयर्थाथता निवृत हो जाती है तथा प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। इसलिए अर्थ का बोधक होने से प्रत्येक ज्ञान प्रमाण मान लिया जाता है। जहाँ बाधक ज्ञान या कारण-दोष ज्ञान हो जाता है वहाँ उसकी स्वाभाविक प्रमाणिकता नही रहती।[25] प्रामाण्य ज्ञान में कारण के गुण जानने का उपयोग नही है अपितु गुणों के ज्ञान से दोषों का अभाव सिद्ध हो जाता है और दोषों के अभाव से बाधक ज्ञान तथा कारण-दोष ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। यदि पूर्वपक्षी शंका करे कि गुणों से दोषों के अभाव का ज्ञान मानने पर अनवस्था- दोष हो जायेगा तो कुमारिल भट्ट इसका उत्तर देते हैं कि गुणों को प्रामाण्य ज्ञान का कारण हम नहीं मानते इसलिए गुणों का ज्ञान अपेक्षित नहीं है अपितु गुण अपनी सत्तामात्र से ही दोषों के अभाव का निश्चय करा देतें हैं और इस प्रकार ज्ञान का स्वाभाविक प्रामाण्य बना रहता है।[26]

प्रामाण्य की स्वतोग्राहयता का उत्तरकालीन ग्रन्थों में विवेचन

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमाण की स्वतोग्राह्यता का उत्तरकालीन ग्रन्थों में जैसा विवरण मिलता है वैसा 'श्लोकवार्त्तिक' में नही पाया जाता। उत्तरकालीन ग्रन्थों में स्वतः प्रामाण्य का स्वरूप जैसा पाया जाता, वह इस प्रकार है-

जिस साधन के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है उसी साधन से ज्ञानगत प्रामाण्य का ग्रहण होता है। ज्ञान के ग्राहक से भिन्न प्रामाण्य का ग्राहक नहीं होता, यही प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता है।

मीमांसक के अनुसार प्रवृत्ति से पहले ही ज्ञान का ग्रहण हो जाता है यदि ज्ञान का ग्रहण न हुआ करता तो उसके प्रामाण्य या अप्रामाएय कर सन्देह भी न हुआ करता, क्योंकि बिना जाने हुए धर्मी में सन्देह नही होता, अतः प्रवृत्ति से पहले ही ज्ञातता के द्वारा अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण हो जाता है और उसी समय अर्थापत्ति से ही प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है तब पुरूष की प्रवृत्ति होती है।[27]

इस कथन से स्पष्ट है कि ज्ञातता द्वारा अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है और उसी के द्वारा प्रामाण्य का भी ग्रहण होता है। इस उत्तरकालीन स्वतः प्रामाण्य के विवेचन में ज्ञातता सिद्धान्त का जो समावेश है वह स्पष्ट रूप से श्लोकवार्त्तिक में नही मिलता। चाहे उसका बीज विद्यमान भी हो। विचारणीय यह है कि मीमांसक सम्प्रदाय में ज्ञातता का स्वरूप-विकास कैसे हुआ और उसके द्वारा ज्ञान तथा प्रामाण्य का ग्रहण कैसे होता है।

मीमांसा-सम्प्रदाय के ग्रन्थों के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि जैमिनि के सूत्रों में इस बात के संकेत नही मिलते कि ज्ञान का ग्रहण कैसे होता है? शाबरभाष्य में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख मिलता है कि ज्ञान का ग्रहण अनुमान द्वारा होता है और अर्थ के जानने पर ही ज्ञान का अनुमान किया जाता है-

न ह्ययज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते। ज्ञाते तु अनुमानादवगच्छति।[28]

अर्थात अर्थ के अज्ञात रहते हुए कोई व्यक्ति ज्ञान का ग्रहण नही करता, अर्थ के ज्ञात होने पर तो अनुमान से ज्ञान का ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार शाबरभाष्य में कहा गया है कि पहले किसी अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके पश्चात उस ज्ञान का बोध हुआ करता है।[29] ज्ञान का प्रत्यक्ष नही हुआ करता-

'तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः'[30]

इस प्रकार शाबरभाष्य में यह स्पष्ट रूप से विवेचन किया गया है कि ज्ञान का अनुमान द्वारा ग्रहण होता है किन्तु यह नही बताया गया कि उस अनुमान का प्रकार क्या है? शबर भाष्य के श्लोकवार्त्तिक में भी 'ज्ञातता' शब्द का प्रयोग उपलब्ध नही होता, न ही ज्ञातता के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। वहाॅ इस बात का संकेत अवश्य मिलता है कि 'अर्थसंविति' ही ज्ञातता है।[31] यहाँ 'न ह्ययज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते' इस सिद्धान्त भाष्य पर वार्त्तिक है- उत्तरं ग्राहकाभावाल्लिङ्गाभावाच्च नास्ति नः। तदा ग्रहणमित्येतत्।[32] अर्थात् सिद्धान्ती उत्तर है कि तब अर्थग्रहण से पहले लिंगभूत ज्ञान का ग्राहक प्रमाण नही है अतः उसका ग्रहण नही हो सकता। इसकी व्याख्या करते हुए भट्टोम्बेक ने दिखलाया है कि अर्थ का ग्रहण ही लिंगरूप या अन्यथा उपपन्न न होना रूप जो ज्ञान का ग्राहक प्रमाण है उसको उपपन्न करता है।[33] पार्थसारथि मिश्र ने भी 'न्यायारत्नाकर' नामक टीका में अर्थापत्ति या अनुमान के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है, यह प्रतिपादित किया है।[34] किन्तु यह सब विवेचन में भी ज्ञान और ज्ञातता का परिष्कृत स्वरूप परिलक्षित नही होता। ज्ञात अर्थ का धर्म ही ज्ञातता है, यह स्पष्ट ही है। सम्भवतः यही समझते हुए अन्य आचार्यो ने इस शब्द का प्रयोग कर दिया किन्तु इसकी व्याख्या या परिभाषा की ओर विशेष रूचि नही दिखलाई।

पार्थसारथि मिश्र ने 'शास्त्रदीपिका' में बलपूर्वक यह स्थापना की है कि ज्ञान अनुमेय है और यह भी दिखलाया है कि उस ज्ञान का अनुमान किस प्रकार किया जाता है। उनके इस विवेचन में ज्ञातता का स्वरूप कुछ अधिक स्पष्ट हुआ है, तथापि ज्ञातता या प्रकटता शब्दों का प्रयोग उपलब्घ नही होता।

पार्थसारथि मिश्र ने 'शास्त्रदीपिका' में योगाचार और सौत्रान्तिक के मतों की समीक्षा करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि कोई अर्थ

ज्ञान का विषय क्यों कहलाता है? अर्थात घट-ज्ञान का विषय घट क्यों माना जाता है? संक्षेप में इस विषयता का निर्धारण करने वाले निम्न आधार हो सकते है-

1. जो अर्थ ज्ञान का हेतु होता है वह उसका विषय कहलाता है।
2. ज्ञान में जिस अर्थ का सारूप्य होता है वही अर्थ उस ज्ञान का विषय कहलाता है।
3. ज्ञान जिस अर्थ के आकार में भासित होता है (तादात्म्य) वही अर्थ उस ज्ञान का विषय कहलाता है।

ज्ञान जिस अर्थ में 'प्रकटता' या 'ज्ञातता' को उत्पन्न करता है, वही अर्थ उस ज्ञान का विषय होता है। पार्थसारथि मिश्र ने प्रथम तीन मतों का निराकरण करते हुए चतुर्थ की स्थापना की है, जो संक्षेप में इस प्रकार है-

1. यदि इनमें से प्रथम मत स्वीकार किया जाता है अर्थात जिस पदार्थ से ज्ञान उत्पन्न होता है वही उस ज्ञान का विषय कहलाता है, जिसका तर्कभाषा आदि में 'तदुत्पत्ति' शब्द से उल्लेख किया गया है और जो मत नैयायिक का माना जाता है वह युक्तियुक्त प्रतीत नही होता। कारण यह है कि घट आदि पदार्थ से जो घटज्ञान होता है उसमें जिस प्रकार घट कारण है, उसी प्रकार नेत्र तथा प्रकाश आदि भी कारण है। यदि घट से उत्पन्न होने के कारण घट को उसका कहा जाता है जो नेत्र तथा प्रकाश से उत्पन्न होने के कारण, नेत्र आदि को उसका विषय क्यों नही माना जा सकता, इसलिए तदुत्पत्ति को विषयता का नियामक नही माना जा सकता।

2. दूसरा मत सौत्रान्तिक का है, उनका कहना है कि यदि ज्ञान को निराकार माना जाए जो नील का ज्ञान है, वही पीत का ज्ञान है, इस प्रकार की विषय व्यवस्था नही बन सकती। यह

विषय–व्यवस्था तभी बन सकती है जब ज्ञान को साकार माना जाता है। जिस नील आदि वस्तु का ज्ञान से ग्रहण होता है वह नील आदि वस्तु में अपने आकार वाला हो जाता है, तभी यह निश्चय किया जाता है कि यह नील ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान में जिस अर्थ का आकार होता है वही अर्थ ज्ञान का विषय कहलाता है। सौत्रान्तिक का यह मत योगाचार विज्ञानवाद के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर देता है, क्योंकि यदि ज्ञान में ही आकार मान लिया जाए तो बाहय विषय को मानने की आवश्यकता ही नही रहती। इसी को लक्ष्य में रखकर योगाचार ने सौत्रान्तिक के मत का खण्डन किया है।

3. तृतीय मत विज्ञानवादी बौद्ध का है। विज्ञानवादी बौद्ध ने सौत्रान्तिक के मत का खण्डन करते हुए यह कहा है कि नील आदि पदार्थ ज्ञानरूप ही है उससे (ज्ञान से) भिन्न नही है। अतः नील आदि का ज्ञान के साथ तादात्म्य है और जिस नील आदि का ज्ञान में तादात्म्य रूप से भास होता है वही नील आदि का ज्ञान का विषय कहलाता है। शास्त्रदीपिकाकार ने विज्ञानवादी के मत का उपसंहार करते हुए कहा है–

‘तस्मात् ज्ञानात्मकत्वमेव नीलादेविषयलक्षणमिति सिद्धं तादात्म्यम्’।[35]

इसलिए ‘नील’ आदि का ज्ञानस्वरूप होना ही उनकी विषयता है इस प्रकार ज्ञान और अर्थ का तादात्म्य सिद्ध होता है।

पार्थसारथि मिश्र ने विज्ञानवादी बौद्ध के मत का विस्तार से खण्डन किया है[36] तथा यह सिद्ध किया है कि ज्ञान से उत्पन्न होने वाला फल या धर्म जिस पदार्थ में रहता है वही पदार्थ ज्ञान का विषय कहलाता है।[37] शास्त्रदीपिका में उसका ‘प्रकाशमानत्व’ प्रकाशन, भासन इत्यादि शब्दों से उल्लेख किया गया है अतः यह स्पष्ट ही है कि उत्तरकालीन ग्रन्थों में ज्ञान के द्वारा अर्थ में उत्पन्न

होने वाला फल हि ज्ञातता या प्रकटता अथवा प्राकट्य इत्यादि नामों से पुकार गया है।

'शास्त्रदीपिका' में विस्तारपूर्वक यह भी निरूपण किया गया है कि ज्ञान किस प्रकार अनुमेय है।[38] संक्षेप में भाव यह है विज्ञान की क्रिया से भी कर्म में कोई सकर्मक है, अर्थ ही उसका कर्म है। जिस प्रकार पाक आदि क्रिया ताण्डुल आदि में फल (विक्लितिः=त्रगलना) उत्पन्न करती है इसी प्रकार ज्ञान क्रिया से भी कर्म में कोई फल उत्पन्न होता है। इन्द्रियज्ञान से जो फल अर्थ में उत्पन्न होता है उसे अपरोक्षता कहते है और अनुमान आदि ज्ञान से जो फल उत्पन्न होता है उसे परोक्षता कहते हैं। लोक में परोक्ष और अपरोक्ष दोनो प्रकार का विषय विभाग प्रसिद्ध है तथा यह भी प्रसिद्ध ही है कि कोई एक पदार्थ ही किसी ज्ञान का विषय कहलाता है, अन्य नही। यह सब विभाग तभी बन सकता है जब यह माना जाय कि ज्ञान के द्वारा अर्थ में कोई फल या विशेषता उत्पन्न की जाती है। इस फल को माने बिना यह बन नही सकता। यहाँ पार्थसारथि मिश्र ने स्पष्ट शब्दों में यह दिखला दिया है कि ज्ञातता की सिद्धि अर्थापत्ति द्वारा होती है, यद्यपि अर्थापत्ति शब्द को पार्थसारथि मिश्र ने प्रयोग नही किया है।

वह फल ज्ञान का कार्य है अतः अपने कारणरूप ज्ञान का अनुमान कराता है। इस प्रकार यद्यपि ज्ञान का प्रत्यक्ष नही होता तथापि उसके फल 'ज्ञातता' द्वारा उसका बोध हो जाता है–

'तदेव च फलं कार्यभूतं कारणभूतं विज्ञानमुपकल्पयतीति सिद्ध्यत्यप्रत्यक्षमपि ज्ञानम्'[39] यहाँ पार्थसारथि मिश्र ने 'उपकल्पयति' शब्द को प्रयोग किया है जिससे अर्थापत्ति द्वारा जानता है अथवा अनुमान करता है ये दोनों अर्थ समझें जा सकते हैं। शाबरभाष्य में ज्ञान को स्पष्ट रूप से अनुमेय कहा गया है फिर भी जिन [illegible] ग्रन्थों में मीमांसक के इस मत का उल्लेख किया गया है

वहां कहीं ज्ञान को अनुमेय कहा गया है और कहीं अर्थापत्ति से बोध्य।[40] ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थापत्ति और अनुमान का परस्पर भेद न करते हुए ही दोनों तरह के निर्देश कर दिए गए है।

ज्ञातता की सिद्धि में प्रायः सभी दर्शनों ने एक युक्ति बाधकरूप से प्रस्तुत की है। वह यह है कि इस प्रकार अतीत और अनागत पदार्थ ज्ञान का विषय नही हो सकेगें क्योंकि उनमें हमारे ज्ञान के द्वारा ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न नही किया जा सकता। जो वस्तु उपस्थित ही नही उसमें कोई धर्म कैसे उत्पन्न किया[41] जा सकता है। इस दोष का निराकरण करते हुए 'शास्त्रदीपिका' में बताया गया है कि जिस प्रकार बीते हुए दिन में यह दसवाँ दिन था, इस प्रकार संख्या की प्रतीति होती है। इसी प्रकार भूत और भविष्यत् के पदार्थो में भी ज्ञान के द्वारा प्रकाशन रूप धर्म उत्पन्न कर दिया जाता है। यह प्रमाण के आधार पर स्वीकार करना चाहिए।[42]

यह कहा जा सकता है कि ज्ञातता के द्वारा अनुमान (या अर्थापत्ति) से ज्ञान का ग्रहण होता है और उसी के द्वारा ज्ञान में स्थित प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है परन्तु ग्रहण से पूर्व भी प्रामाण्य को स्वरूपतः ज्ञान में स्थित माना जाता है, प्रामाण्य-ग्रहण के बिना भी ज्ञान अपना अर्थबोधरूप कार्य कर लेता है, क्योंकि प्रामाण्य का केवल सत्तामात्र से होना आवश्यक है ज्ञायमान रूप में होना आवश्यक नही। प्रामाण्य का ग्रहण तो बाद में अनुमान के द्वारा हुआ करता है जिसका विशद विवेचन कुमारिल भट्ट ने '``लोकवार्तिक' में किया है।[43]

अप्रामाण्य परतः होता है-

ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः होता है, इस बात को विस्तार से सिद्ध करके, कुमारिल भट्ट ने यह सिद्ध किया है कि ज्ञान का अप्रामाण्य परतः हुआ करता है। भाव यह है कि अप्रमाण ज्ञान भी

अपने अर्थ का स्वरूप से ग्रहण करता है, जैसे इदं रजतम्[44] यह ज्ञान शुक्तिखण्ड को रजत रूप में ही ग्रहण करता है 'नेदं रजमत्' इस रूप में नही। इस प्रकार वह भी व्यवहार का कारण होता है किन्तु जब अन्य ज्ञान से उसका मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है तब उसकी अप्रामाणिकता का बोध हो जाता है और व्यवहार की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार ज्ञान के अप्रामाण्य का अभिप्राय है गृहीत अर्थ का अन्यथाभाव। और अर्थ के तथाभाव के समान, अन्यथाभाव का स्वयं ग्रहण नही हो सकता, अतः ज्ञान के अप्रामाण्य का ग्रहण करने के लिए तथा व्यवहार की निवृत्ति के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा है इस प्रकार अप्रामाण्य परतो ग्राह्य है।

भाव यह है कि यद्यपि बोधरूप होने से प्रत्येक ज्ञान सामान्यरूप से प्रमाण होता है तथापि यदि उस ज्ञान का बाधक दूसरा ज्ञान हो जाता है अथवा कारण में दोष का ज्ञान होता है तो उस ज्ञान का अप्रामाण्य निश्चित कर लिया जाता है यही ज्ञान की अयथार्थता को निश्चित करने वाले हेतु हैं। जिस प्रकार ज्ञान का प्रामाण्य प्रथम ज्ञान में ही स्वतः गृहीत हो जाया करता है इसी प्रकार अप्रामाण्य का ग्रहण नही हुआ करता, क्योंकि अप्रामाण्य का ग्रहण बाधकज्ञान और कारणदोष ज्ञान की अपेक्षा रखता है। इसलिए अप्रामाण्य परतः होता है, यह माना जाता है।[45]

यह अप्रामाण्य 'श्लोकवार्त्तिक' के अनुसार तीन प्रकार का होता है :- अज्ञान, विपर्यय, और संशय। इनमें से अज्ञान अभावरूप है अर्थात् ज्ञान का अभाव ही अज्ञान कहलाता है, अतः उसकी उत्पत्ति में दोषों को हेतु नहीं माना जा सकता अपितु ज्ञान का कारण न होने से ही अज्ञान उत्पन्न हो जाया करता है। विपर्यय और संशय दो प्रकार के अप्रमाण ज्ञान भावरूप हैं। कुमारिल के मतानुसार विपर्यय का स्वरूप नैयायिक के समान (विपरीतख्याति या अन्यथाख्याति रूप) ही होता है। अतः इनकी उत्पत्ति दोषयुक्त

कारणों से होती है[46] और ये उत्पत्ति में भी ज्ञान के सामान्य कारण से भिन्न कारण (दोष) की अपेक्षा रखते हैं, यही अप्रामाण्य का उत्पत्ति में परतस्त्व कहा जा सकता है। इस अप्रामाण्य का ग्रहण कारण-दोष के ज्ञान से तथा बाधकज्ञान से हुआ करता है। किन्तु यदि कारण-दोष से अप्रामाण्य का ग्रहण माना जाए तो यह प्रश्न उठ सकता है कि गुणज्ञान से प्रामाण्य का ग्रहण मानने में मीमांसक ने अनवस्था-दोष दिखलाया है, उसी प्रकार दोषज्ञान से अप्रामाण्य का ग्रहण मानने में अनवस्था-दोष हो जायेगा। इसका उत्तर देते हुए श्लोकवार्त्तिक में बतलाया गया है कि स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसक के मत में इस प्रकार का अनवस्था-दोष नहीं हो सकता। यदि अप्रामाण्य का ग्रहण दूसरे ज्ञान के अप्रामाण्य-ग्रहण के अधीन हुआ करता तब तो अनवस्था-दोष की आशंका हो सकती थी, किन्तु ऐसा नहीं होता। अप्रामाण्य का ग्रहण तो दोष-ज्ञान की अपेक्षा से होता है और दोष-ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है, क्योंकि हमारे मत में ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः होता है।[47] श्लोकवार्त्तिक में स्पष्ट ही बतलाया गया है-

"उत्पत्त्यवस्थं चैवेदं प्रमाणमिति गीयते"।।[48]

अर्थात् दोषज्ञान ओर बाधकज्ञान उत्पत्ति की अवस्था में ही प्रमाण होते हैं, यह माना जाता है ।

कुमारिल भट्ट ने यह भी विवेचन किया है कि जहॉ बाधकज्ञान के द्वारा प्रथम ज्ञान की अप्रामाणिकता सिद्ध होती है वहॉ बाधकज्ञान साक्षात् रूप से पूर्वज्ञान की अयथार्थता का बोधक होता है, क्योकि वह पहले ज्ञान का बाधकर ही उत्पन्न हुआ करता है। जैसे प्रथमतः शुक्तिका में 'इदं रजतम्' यह ज्ञान होता है तदनन्तर 'नेदं रजतम्' यह बाधज्ञान होता है। यह बाधज्ञान प्रथम ज्ञान की अप्रामाणिकता सिद्ध कर देता है। दूसरी ओर जब कारणदोष ज्ञान से पूर्वज्ञान की अयथार्थता का निश्चय होता है तो वहॉ साक्षातरूप

से पूर्वज्ञान की अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती, अपितु पहले कारण में दोष का ज्ञान होता है फिर उसके कार्य का दोषयुक्त होना जान लिया जाता है। जैसे चक्षु में पीलिया आदि दोष का ज्ञान होने पर यह प्रतीत होता है कि इसी कारण–दोष से श्वेत होते हुए भी शंख पीला दिखलाई दे रहा है। अतः शंख पीला है, इस ज्ञान को मिथ्या समझ लिया जाता है। यहाँ साक्षात्‌रूप से तो दोष का ज्ञान कारण में होता है किन्तु उससे प्रथम ज्ञान (पीतज्ञान) का बाध हो जाता है। इस प्रकार कारण दोष ज्ञान का प्रथम ज्ञान के साथ अप्रत्यक्ष रूप (परम्पराया) से सम्बन्ध होता है।[49]

बाधकज्ञान पूर्वज्ञान की अप्रामाणिकता का तभी निश्चय करता है जबकि उसका बाधक कोई और ज्ञान न हो अथवा उसमें कारण–दोष का ज्ञान न हो। यदि उसमें भी कारण–दोष –ज्ञान या बाधकज्ञान होता है तो वह मिथ्या सिद्ध हो जाता है और तब प्रथम ज्ञान की ही प्रामाणिकता बनी रहती है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि ऐसे स्थल पर प्रथम ज्ञान की प्रामाणिकता तृतीय ज्ञान की अपेक्षा रखती है। उसका उत्तर देते हुए 'श्लोकवार्त्तिक' में कहा गया है कि यहाँ प्रथम ज्ञान उसमें दोष का निश्चय न होने मात्र से ही स्वतः प्रमाण हो जाता है, वह अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। इसी प्रकार यदि तीसरे ज्ञान में भी दोष की सम्भावना होती है तो चतुर्थ ज्ञान के द्वारा उसका निश्चय कर लिया जाता है और उसके आधार पर द्वितीय ज्ञान को प्रामाणिक कहा जा सकता है। भाव यह है कि कारण–दोष या बाध–ज्ञान की परम्परा तीन या चार ज्ञानों तक चलती हैं।, इन दोनों में से जिस ज्ञान में किसी प्रकार का अपवाद (कारण–दोष या बाधज्ञान) उपलब्ध होता है, वह अप्रामाणिक हो जाता है और इन चारों ज्ञानों में से किसी एक की प्रामाणिकता का निश्चय हो जाता है, इनसे अधिक ज्ञान की अपेक्षा नहीं करनी होती। इनमें जो भी

ज्ञान प्रामाणिक माना जाता है उसकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध होती है। अन्य ज्ञान तो दोष के अभाव को ही सिद्ध करते है। अतः कुमारिल भट्ट के अनुसार ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः होता है और अप्रामाण्य परतः।

इस प्रकार मीमांसक ने सभी प्रामाणों का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार किया है और इस बात पर विशेष बल दिया है कि प्रामाण्य की सिद्धि के लिए कारण के गुणों की अपेक्षा नहीं होती, केवल कारण–दोषों के अभाव के निश्चय से ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हो जाया करता है। इस सिद्धान्त के आधार पर वेदों का स्वतः प्रामाण्य सहज ही सिद्ध हो जाता है, क्योंकि वेद अज्ञात अर्थ के बोधक है, वे पुरूषकृत नहीं अपौरूषेय हैं, अतः कारण के दोषों की शंका भी उनके विषय में नहीं की जा सकती। जैसा कि उपर कहा गया है, मीमांसक का प्रामाण्यवाद–विषयक यह उपक्रम वेदों के स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि के लिए है। बौद्धों ने प्रमाणों के स्वतः प्रामाण्य का भी बलपूर्वक खण्डन किया है। बौद्धों की अनेक युक्तियों का उत्तर कुमारिल भट्ट ने 'श्लोकवार्त्तिक' में दिया है।

कुमारिल भट्ट द्वारा अन्य मतों का निराकरण

कुमारिल ने 'चोदनालक्षणाऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के 'श्लोकवार्त्तिक' में वेदों की स्वतः प्रमाणता को सिद्ध करते हुए सामान्यतः प्रामाण्यवाद पर विचार किया है।[50] उन्होंने इस विषय में इन चार मतों क– द्वयं स्वतः, ख– द्वयं परतः, ग– अप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं परतः, घ– प्रामाण्यम स्वतः अप्रामाण्यं परतः का उल्लेख किया है, किन्तु कौन दार्शनिक सम्प्रदाय किस मत को मानता है, इसका निर्देश नहीं किया। पार्थसारथि मिश्र और भट्टोम्बेक की टीकाओं के आधार पर ही, अग्रिम अनुवाद भाग –(निबन्ध के द्वितीय भाग) में यह निर्धारित करने का प्रयास किया गया है कि कहाँ, किसके मत की स्थापना या निराकरण है सम्भवतः भारतीय

दर्शन में सर्वप्रथम कुमारिल भट्ट ने ही प्रामाण्यवाद का विशद विवेचन किया है। उत्तरकालीन समस्त प्रामाण्य सम्बन्धी विवेचन में 'श्लोकवार्त्तिक' के एतद्विषयक का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

प्रथम तीन मतों का निराकरण करते हुए 'श्लोकवार्त्तिक' में चतुर्थ मत की स्थापना की गई है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः होते हैं, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इसी आधार पर किया जाता है कि जो वस्तु विद्यमान नहीं है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती,[51] अर्थात सत् वस्तु की ही उत्पत्ति या आविर्भाव हुआ करता है। यदि ज्ञान में प्रामाण्य पहले से विद्यमान नहीं है तो वह किसी के द्वारा भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता। यह मत सत्कार्यवाद पर आधारित है और विविध ग्रन्थों[52] में इसे सांख्य के सिद्धान्त के रूप में स्मरण किया गया है, किन्तु 'श्लोकवार्त्तिक' में इसे सांख्य आदि के नाम से नहीं दिया गया।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः होते हैं, इस सिद्धान्त की आधारभूत युक्ति यह दी गई है कि गुणयुक्त कारणों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह यथार्थ होता है और दोषयुक्त कारणों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अयथार्थ। इस प्रकार गुण और दोषों के आधार पर ही प्रामाण्य व अप्रामाण्य का निश्चय किया जा सकता है। अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः होते हैं,[53] यह न्याय का मत है, किन्तु कुमारिल भट्ट ने 'अपरे' अर्थात् अन्य दार्शनिक ऐसा मानते हैं, केवल इतना ही निर्देश किया है। पार्थसारथि मिश्र ने भी अपनी टीका में न्याय आदि का उल्लेख नहीं किया।

इन दोनो मतों का 'श्लोकवार्त्तिक' में अत्यन्त संक्षेप से खण्डन किया गया है। वे युक्तियां इस प्रकार हैं कि यदि ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः माने जाते है तो इस प्रकार दो विरूद्ध धर्म एक ही ज्ञान में साथ-साथ रहेंगे जो युक्तियुक्त नहीं,[54] क्योंकि एक ही ज्ञान में दूसरे कारण की अपेक्षा के बिना

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दो विपरीत धर्म नहीं हो सकते।[55] यदि यह कहें कि एक ही ज्ञान व्यक्ति में दोनों धर्म नहीं रहते अपितु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में दोनों स्वतः या परतः हो सकते है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि सभी ज्ञान बोधस्वरूप है, अतः उनमें स्वतः तो कोई भेद है नहीं और 'द्वयं स्वतः' मत को मानने वाले अन्य किसी संवाद इत्यादि की अपेक्षा तो मानते नहीं तो फिर किस ज्ञान व्यक्ति में प्रामाण्य होगा और किसमें अप्रामाण्य इसका निश्चय न हो सकेगा।[56] यदि दोनों को परतः माना जाता है तो किसी ज्ञान में गुणों के कारण प्रामाण्य होगा और दोषों के कारण-अप्रामाण्य, फिर तो ज्ञान का अपना कोई भी स्वरूप न होगा।[57] अतः प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः या परतः नहीं हो सकते।

इन दोनों मतों का निराकरण करने के पश्चात् 'श्लोकवार्त्तिक' में इस मत का उल्लेख किया गया है कि ज्ञान स्वभावतः अप्रमाण होते है और उनका प्रामाण्य परतः होता है। बाद के ग्रन्थों में यह मत बौद्धों का बतलाया गया है, किन्तु कुमारिल भट्ट ने यह मत किसका है, यह उल्लेख नहीं किया। इस मत का स्वरूप दिखलाते हुए उन्होंने संक्षेप में यह बतलाया है।[58] ज्ञानों का अप्रामाण्य स्वाभाविक होता है और प्रामाण्य परतः, इस सिद्धान्त के लिए युक्ति यह है कि अप्रामाण्य अभावमात्र है, अतः वह कारण के दोष से नहीं हो सकता, अभाव की किसी कारण से उत्पत्ति नहीं हुआ करती, इसलिये अप्रामाण्य स्वतः मानना चाहिए किन्तु प्रामाण्य तो भावरूप (वस्तुरूप) है। अतः उसके लिए कारण की अपेक्षा है तथा गुण आदि के द्वारा ही प्रामाण्य की निष्पत्ति होती है। चक्षु आदि के नैर्मल्य आदि गुणों के कारण यथार्थज्ञान उत्पन्न हुआ करता है और जब गुणों का अभाव होता है तो ज्ञान अयथार्थ हुआ करता है। यहाँ दोष अप्रामाण्य के कारण नहीं होते अपितु दोषों के होने से गुणों का अभाव जाना जाता है और गुणों का अभाव होने

पर ज्ञान का जो स्वाभाविक अप्रामाण्य है वह बना रहता है इस प्रकार ज्ञानों का अप्रामाण्य स्वतः है और प्रामाण्य गुणों पर आश्रित है:-

तस्मात् कारणशुद्धत्वं ज्ञानप्रामाण्यकारणम्
स्वभावतोऽप्रमाणत्वं तदभावेन लक्ष्यते।।[59]

इससे यह भी प्रतीत होता है कि प्रामाण्य की उत्पत्ति में गुण कारण है और कारण की शुद्धता का ज्ञान प्रामाण्य के निश्चय का कारण है। अतः बौद्ध के अनुसार प्रामाण्य उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति दोनों में परतः होता है। इस मत का निराकरण करते हुए कुमारिल ने प्रामाण्य की परतोग्राह्ययता के खण्डन में ही युक्ति दी है, उत्पत्ति में परतस्त्व के निराकरण में नहीं। कुमारिल भट्ट की युक्ति यह है कि इस मत के अनुसार ज्ञान के उत्पन्न होने पर भी तब तक अर्थ का निश्चय नहीं किया जा सकेगा, जब तक किसी अन्य प्रमाण द्वारा कारण की शुद्धता नहीं जान ली जायेगी। उस कारण की शुद्धि के विषय में, अन्य ज्ञान की उत्पत्ति की परीक्षा किसी दूसरे कारण से करनी होगी, क्योंकि जब तक कारण की शुद्धता निश्चित नहीं होती, तब तक वह अविद्यमान सी ही रहती है उस कारण-शुद्धि के ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए उसके भी कारण की शुद्धता का ज्ञान अपेक्षित होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायेगा।[60]

जैसा कि अग्रिम विवेचन[61] से स्पष्ट होगा 'श्लोकवार्त्तिक' में बौद्धों के प्रामाण्यवाद-विषयक सिद्धान्त का प्रारम्भिक रूप उपलब्ध होता है। उसके निराकरण में भी केवल अनवस्थादोष ही यहाँ दिखलाया गया है। अनवस्था-दोष के निराकरण के लिए बौद्ध की ओर से जो युक्तियाँ दी गई है, उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया। 'श्लोकवार्त्तिक' में बौद्ध मत के विषय में केवल इतना निर्देश किया गया है कि प्रमाणों का प्रामाण्य गुणों द्वारा उत्पन्न होता है।[62] इसी प्रकार बौद्ध मत का खण्डन करते हुए यह भी बतलाया गया

है कि संवाद या संगति से यदि पहले ज्ञान की प्रामाणिकता मानी जायेगी तो अनवस्था-दोष हो जायेगा।[63] किन्तु इस अनवस्था का बौद्ध दर्शन में किस प्रकार निराकरण किया गया, यह बात कुमारिल भट्ट के सामने उपस्थित नहीं थी। इसी कारण उन्होंने यही कहा था यदि अनवस्था को दूर करने के लिए किसी ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानोगे तो पहले ही ज्ञान को स्वतः प्रमाण क्यों नहीं मान लेते, उससे तुम्हें क्या द्वेष है इस अनवस्था-दोष का बौद्धों ने किस प्रकार परिहार करने का प्रयास किया था, यह बात पार्थसारथि मिश्र की न्यायरत्नाकर नामक 'श्लोकवार्त्तिक' की टीका से विदित होती है। बौद्धों के अनुसार अर्थक्रिया-ज्ञान के आधार पर प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित किया जाता है और अर्थक्रिया-ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है, जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है-

'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिरविसंवादनमिति'।[64]

इस विवेचन से यह विदित होता है कि बौद्धों के अनुसार प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणों से होती है और ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण कारण-गुणज्ञान से या अन्य ज्ञान के संवाद से अथवा अर्थक्रिया-ज्ञान से होता है इस प्रकार परतः प्रामाण्य का ग्रहण मानने में भी अनवस्था-दोष नहीं होता, अर्थक्रिया-ज्ञान स्वतः प्रमाण होता ही है।[65]

स्वतःप्रामाण्य-विषयक प्रभाकर का सिद्धान्त

कुमारिल भट्ट ने तीन प्रकार का अप्रमाण ज्ञान माना है- अज्ञान, संशय और विपर्यय ज्ञान।[66] यहाँ संशय और विपर्यय ये दोनों प्रामाण्य को परतः मानने वाले न्याय आदि के समान ही है, अतः स्वाभाविक रूप से ही यह शंका हो सकती है कि ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य नहीं बन सकता, क्योंकि यदि ज्ञान के ग्रहण के साथ-साथ ही उसके प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाया करे तो जहाँ शुक्ति में रजत की प्रतीति होती है वहाँ 'इदं रजतम्' इस ज्ञान के

होते ही इसके प्रामाण्य का निश्चय हो जायेगा, फिर इस ज्ञान को विपयर्य कैसे कहा जा सकता है? अत: ज्ञान का प्रामाण्य स्वत: मानने में विपर्यय नहीं बन सकता। यदि किसी प्रकार विपर्यय बन भी जाए तो जिन ज्ञानों को मीमांसक प्रमाण मानते हैं उनमें भी भ्रान्ति की शंका बनी रहेगी, फिर तो वेद की प्रामाणिकता में भी भ्रान्ति की शंका होगी और वेदों की प्रामाणिकता की रक्षा के लिए मीमांसक ने जो स्वत: प्रामाण्यवाद का व्यूह रचा था वह छिन्न-भिन्न हो जाएगा। इसीलिए प्रभाकर ने यह स्थापित किया कि विपरीतख्याति या विपर्यय ज्ञान सम्भव ही नहीं। अतएव जयन्त ने न्यायमञ्जरी में प्रभाकर की ओर से कुमारलि भट्ट का व्यंग्यपूर्ण शब्दों में उपालम्भ किया है- "सुशिक्षित जन (प्रभाकर इत्यादि) तो कहते हैं कि ठीक ही है वे ये झूठे मीमांसक शरद् ऋतु में वायु के द्वारा काश के पुष्प समूह के समान वायुरूपी दुष्टतार्किकों के द्वारा दूर से ही उड़ा दिये जाते है जो (कुमारिल इत्यादि मीमांसक) विपरीतख्याति को मानते हैं और किसी प्रकार रक्षा का उपाय न करके (अकृतास्त्रा:)[67] कहते हैं कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वत: होता है, उनकी क्या कुशलता? अर्थात् उन्है कैसे बुद्धिमान कहा जा सकता है, क्योंकि यदि विपरीतख्याति को माना जाता है तो बाधित ज्ञान के प्रसंगों की प्रचुरता होगी और जहाँ बाधकज्ञान उत्पन्न नहीं होगा, वहाँ भी बाधित (मिथ्या) ज्ञान के साधर्म्य से होने वाले संशय को नहीं रोका जा सकता। जब शंसय होगा तो (ज्ञान के प्रामाण्य के लिए) संवाद आदि का अन्वेषण भी निश्चितरूप से करना होगा, इस प्रकार परत: प्रामाण्य अनिवार्य हो जायेगा।[68]

उपर्युक्त दोष का अनुभव करते हुए ही प्रभाकर ने सभी अनुभव-ज्ञानों को प्रमाण माना है। उनका मत शाबरभाष्य की बृहती नामक टीका में यत्र-तत्र विच्छिन्न रूप से प्रकट हुआ है जिसके शालिकनाथ ने "प्रकरण पन्चिका" में विशदरूप से प्रस्तुत

किया है। संक्षेप में इसका सार यह है कि ज्ञान दो प्रकार का होता है- 1. अनुभव, 2. स्मृति। इनमें अनुभव ज्ञान सदा प्रमाण ही हुआ करता है और स्मृति प्रमाण नहीं होती। किन्तु यदि अनुभव ज्ञान सदा प्रमाण ही होता है अथवा अनुभूतिमात्र ही प्रमाण है तो शंका यह है कि शुक्ति में जो 'यह रजत है' इस प्रकार का ज्ञान होता है, यह भी प्रमाण होने लगेगा।[69] इसका उत्तर देते हुए प्रभाकर कहते हैं कि यहाँ कोई एक ज्ञान नहीं है, अपितु दो ज्ञानों का समुच्चय है। इसका विशद निरूपण प्रभाकर के अख्यातिवाद का विवचेन करते हुए किया जा चुका है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यहाँ जो 'यह' (इदम्) इस प्रकार का 'इदन्ता का ज्ञान है वह तो अनुभवरूप है और जो रजत का ज्ञान है वह स्मरण है, इस प्रकार यहाँ दो ज्ञान मिले हुए हैं। 'इदन्ता' रूप जो अनुभव अंश है, इस अंश में यह ज्ञान प्रमाण ही है। जो कुमारिल इत्यादि यह मानते है कि 'इदं रजतम्' मिथ्याज्ञान है, क्योंकि इसका 'नेदं रजतम्' इस ज्ञान के द्वारा बाध हो जाता है वे भी इस ज्ञान को 'इदम्' अंश में भ्रान्ति नहीं मानते, क्योंकि इस अंश का तो बाध होता नहीं। यहाँ स्मरणरूप जो रजतज्ञान है वही भ्रन्ति ज्ञान है क्योंकि वह अनुभव के व्यवहार का प्रवर्तक है तथा रजत लेने के लिए प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को वञ्चित करता है। इस प्रकार के ज्ञान का कारण 'विवेकाग्रह' है अर्थात् प्रत्यक्ष और स्मृति दोनों का विवेक (Discrimination) न करना है। इस प्रकार का विवेकाग्रह अर्थात् दोनों ज्ञानों का भिन्न-भिन्न न समझा जाना ही 'अख्याति' (अर्थात् ज्ञान का न होना) कही गई है, उसी से भ्रान्ति हो जाया करती है। अतः यह स्पष्ट है कि शुक्ति में रजत के स्थल में भ्रम इसलिए नहीं है कि कोई ज्ञान विपरीत अर्थात् उलटा हुआ है प्रत्युत यहाँ भ्रान्ति इसलिए होती है कि स्मृति और अनुभव का, जो विवेक अर्थात् पृथक-पृथक होने का अनुभव होना चाहिए था, वह

नहीं हुआ। इस प्रकार यहाँ उलटा ज्ञान नहीं अपितु एक ज्ञान की कमी रह गई है यहाँ 'इदं रजतम्' इत्यादि स्थल में विषयभेद से ज्ञान के दो अंश हो जाते है- एक अनुभव अंश और दूसरा स्मृति अंश- अतः यह एक अंश में प्रमाण और दूसरे अंश में अप्रमाण होता है। इस प्रकार प्रभाकर के मतानुसार प्रत्येक अनुभव ज्ञान यथार्थ ही हुआ करता है फिर किसी भी अनुभव ज्ञान में शंका का अवकाश ही नहीं होता और जब ज्ञान के मिथ्यात्व की शंका ही नहीं हो सकती तो उसके प्रामाण्य के निश्चय के लिए संवाद आदि की अपेक्षा कहाँ होगी? तब तो प्रमाणों का स्वतः प्रामाण्य सहज ही हो जाता है और फिर वेद भी स्वतः प्रमाण हो जाते है। इसमें किसी शंका का अवसर नहीं है। जैसा कि न्यायमञ्जरीकार जयन्त ने प्रभाकर के स्वतः प्रामाण्य-विषयक मत का उपसंहार करते हुए लिखा है-

'अजातमिथ्याशब्दकश्च न संवादमपेक्षते'
तस्मान्न कश्चित्परतः प्रामाण्यमधिगच्छति।
एवं स्वतः प्रमाणत्वे सिद्धे वेदेऽपि सा गतिः।।[70]

न्याय-वैशेषिक का प्रामाण्यवाद

प्रमाणों के स्वरूप-निरूपण और प्रामाण्यवाद के विवेचन में न्याय-वैशेषिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। न्यायदर्शन आरम्भ से ही वाद-विद्या का निरूपण करता रहा है, उसका विशेष उद्देश्य तर्कविद्या और प्रमाणों का निरूपण ही रहा है। इसलिए गौतम मुनि ने न्यायशास्त्र का प्रयोजन बतलाते हुए यह निरूपण किया है कि प्रमाण, प्रमेय, प्रयोजन, संशय इत्यादि के तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है। ज्यों-ज्यों न्याय-सम्प्रदाय का विकास होता गया त्यों-त्यों प्रमाणों के निरूपण की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। परिणामतः 12वीं शताब्दी में जब गंगेश उपाध्याय ने 'तत्त्वचिन्तामणि'

ग्रन्थ लिखकर नव्य–न्याय का प्रारम्भ किया, तब तो प्रमाणों का निरूपण ही न्याय का मुख्य विषय बन गया।

वैशेषिक दर्शन का उद्देश्य प्रारम्भ में वाह्य जगत् के दृश्यमान पदार्थो का निरूपण ही रहा। यह शास्त्र प्रमाण प्रधान न होकर प्रमेय प्रधान ही बना रहा, इसीलिए इसने बतलाया कि द्रव्य, गुण, कर्म इत्यादि पदार्थो के यथार्थ ज्ञान से मुक्ति प्राप्ति होती है। द्रव्य आदि पदार्थो का निरूपण ही बहुत समय तक वैशेषिक–सम्प्रदाय का प्रतिपाद्य विषय बना रहा, किन्तु काल–क्रमानुसार न्याय और वैशेषिक दोनों के सिद्धान्तों में विकास होता गया। न्याय दर्शन ने वैशेषिक के द्रव्य आदि सात पदार्थो का प्रतिपादन करना आरम्भ कर दिया, उधर वैशेषिक के ग्रन्थों में भी प्रमाणों के स्वरूप निरूपण की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। फल यह हुआ कि 11वीं शताब्दी के बाद अनेक ऐसे प्रकरण–ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तों का सम्मिलित रूप से निरूपण किया गया है।

यद्यपि प्रामाण्यवाद के विषय में न्याय और वैशेषिक दोनों ही सम्प्रदायों का सिद्धान्त समान ही है दोनों ही दर्शन प्रामाण्य ओर अप्रामाण्य को परतः मानते है तथापि प्रमाणों के स्वरूप–विकास और प्रामाण्यवाद के विकासक्रम की दृष्टि से दोनों का मार्ग भिन्न–भिन्न है।

गौतम के न्यायसूत्र से इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ माना जाता है। न्यायसूत्र में प्रमाण शब्द का उल्लेख और प्रमाणों का विभाजन तथा उनके लक्षण एवं परीक्षा अवश्य की गई है, तथापि उनमें प्रामाण्य–विचार–विषयक कोई संकेत नहीं मिलता। न्यायसूत्र पर सबसे प्राचीन वात्स्यायन मुनि का भाष्य है। वात्स्यायन मुनि का समय 300 ई0 के लगभग माना जाता है। वात्स्यायन भाष्य के आरम्भ में, प्रमाण का प्रयोजन बतलाते हुए यह कहा गया है– 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्' अर्थात् 'प्रमाण से

अर्थ का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति की सफलता होती है अतः प्रमाण सप्रयोजन है'। इस कथन की व्याख्या करते हुए वात्स्यायन भाष्य में बतलाया गया है कि प्रमाण के बिना अर्थ का ज्ञान नहीं होता और अर्थ के यथार्थ ज्ञान से सफल प्रवृत्ति होती है।[71] इस कथन से यह प्रतीत होता है कि भाष्यकार के मतानुसार यदि प्रमाण द्वारा किसी अर्थ का बोध होता है भी उस अर्थबोध के द्वारा सफल प्रवृत्ति हुआ करती है। सामर्थ्य का तात्पर्य ही है अर्थज्ञान का फल के साथ सम्बन्ध होना।[72] इस प्रकार प्रवृत्ति की सफलता प्रमाण का कार्य है, इतना मात्र ही यहाँ बतलाया गया है। प्रमाण की प्रामाणिकता का निश्चय कैसे होता है, इसका विचार यहाँ नहीं किया गया। हाँ, न्याय-भाष्यकार ने यथार्थ ज्ञान का स्वरूप अवश्य बतलाया है। यदि किसी भावरूप वस्तु को 'यह है' इस अपने निजी रूप में और बिना किसी विपरीतता के ग्रहण किया जाता है तो वह यथार्थ-ज्ञान (तत्त्व) कहलाता है तथा किसी अभावरूप पदार्थ का 'यह नहीं है' इस प्रकार अपने निजी रूप में बिना किसी भेद के ग्रहण किया जाना भी यथार्थ ज्ञान कहलाता है।[73] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि न्यायभाष्य में ज्ञान की यर्थाथता का स्वरूप दिखलाया गया है, ज्ञान के प्रामाण्य-ग्रहण के विषय में संकेत भी किया गया है, किन्तु वहाँ प्रामाण्य-ग्रहण-विषयक कोई स्पष्ट विचार नहीं उपलब्ध होता।

'न्यायवार्त्तिक' में जिसका समय छठी शताब्दी के लगभग माना जाता है उद्योतकर ने 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ'- इत्यादि भाष्य-वचन की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि कोई प्रमाता जब प्रमाण से अर्थ का निश्चय करके किसी कार्य में प्रवृत्त होता है तब उसकी प्रवृत्ति सफल होती है, किन्तु जब प्रमाणाभास के द्वारा अर्थ का निश्चय करके कोई प्रवृत्त होता है तब प्रवृत्ति असफल होती है और उस समर्थ प्रवृत्ति के कारण प्रमाण सप्रयोजन होता है।[74] न्यायवार्त्तिक

के इस कथन में न्यायभाष्य के प्रामाण्य-विषयक संकेत को कुछ स्पष्ट करने का प्रयास अवश्य किया गया है क्योंकि यथार्थज्ञान के आधार पर होने वाली प्रवृत्ति सफल होती है इस पर शंका उठाई गई है कि सफल प्रवृत्ति तथा प्रमाण के द्वारा अर्थ का निश्चय, दोनों एक दूसरे की अपेक्षा करते है, अतः अन्योन्याश्रय होने से दोनों की सिद्धि नही हो सकती। यदि प्रमाण से अर्थ का निश्चय होने पर सफल प्रवृत्ति होती है अथवा यदि सफल प्रवृत्ति के कारण प्रमाण से अर्थ का निश्चय होता है तो इनमें से कौन पहले और कौन बाद में होगा, यह निश्चित नही बताया जा सकता। अतः अन्योन्याश्रित होने से इन दोनों (सफल प्रवृत्ति और प्रमाण के द्वारा अर्थ का निश्चय) की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इस शंका का समाधान करते हुए उद्योतकर ने कहा है कि यह संसार अनादि है, इसलिए इस प्रकार की शंका नहीं हो सकती कि पहले प्रमाण से अर्थ का निश्चय होगा अथवा सफल प्रवृत्ति होगी।[75] उद्योतकर के इस शंका समाधान में एक स्पष्ट संकेत मिलता है- 'यदि वा प्रवृत्तिसामर्थ्यात् प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तिः'[76] अर्थात् सफल प्रवृत्ति के कारण प्रमाण से अर्थ का निश्चय होता है' इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उद्योतकर के समय न्याय-सम्प्रदाय में यह मान लिया गया था कि सफलप्रवृत्ति से ही ज्ञान के याथार्थ्य का निश्चय हुआ करता है। फिर भी न्यायवार्त्तिक में प्रामाण्यवाद विषयक कोई स्पष्ट विवेचन उपलब्ध नहीं होता। न्याय-सम्प्रदाय में सर्वप्रथम वाचस्पति मिश्र ने ही प्रामाण्यवाद का व्यवस्थित रूप से विचार किया है।

वाचस्पतिमिश्र भारतीय दर्शन के जाज्वल्यमान रत्न हैं, दर्शन के क्षेत्र में उनकी अपनी नवीन उद्भावनायें है। उनका समय 9वीं शताब्दी का प्रथम भाग है, यह निश्चित सा ही है। उन्होंने उद्योतकर के 'न्यायवार्त्तिक-तात्पर्य-टीका' नामक ग्रन्थ लिखा है जो कि न्यायशाास्त्र का निश्चय ही सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।[77]

'न्यायवार्त्तिक-तात्पर्य-टीका' में न्याय भाष्य और उद्योतकर के उपर्युक्त अंश की व्याख्या करते हुए यह विशद रूप में विवेचन किया गया है कि ज्ञानों के प्रामाण्य का स्वतः निश्चय नहीं किया जा सकता, अपितु अनभ्यासदशापन्न ज्ञानों के प्रामाण्य का निश्चय प्रवृत्ति-सामर्थ्य के द्वारा अनुमान से किया जाता है और अभ्यासदशापन्न ज्ञानों में तज्जातीय लिंग के द्वारा प्रामाण्य का निश्चय किया जाता है अर्थात् अभ्यास दशा के ज्ञान को किसी यथार्थ ज्ञान के समान होने से प्रवृत्ति-सामर्थ्य के बिना ही प्रमाणिक मान लिया जाता है। इस प्रत्यक्ष तथा शब्द आदि प्रमाणों का प्रामाण्य परतः सिद्ध होता है किन्तु अनुमान का प्रामाण्य स्वतः ही होता है, क्योंकि समस्त व्यभिचार शंकाओं से रहित लिंग परामर्श के द्वारा अनुमान-ज्ञान की उत्पत्ति हुआ करती है।

वाचस्पति मिश्र की प्रामाण्य-विषयक स्थापना ही उत्तरकालीन न्याय-सम्प्रदाय में सर्वसम्मत रही है तथापि जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में प्रामाण्यवाद का अत्यन्त स्पष्ट एवं विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। जयन्त भट्ट, वाचस्पति मिश्र से प्राचीन है या अर्वाचीन, यह विवाद का विषय है।[78]

उत्तरकालीन न्याय-सम्प्रदाय में जब गंगेश उपाध्याय की 'तत्त्वचिन्तामणि' के आधार पर प्रमाणों का ही मुख्यरूप से विवेचन होना प्रारम्भ हुआ तब तो प्रामाण्यवाद का विवेचन भी न्यायशास्त्र का प्रमुख विषय बन गया। स्वयं गंगेश उपाध्याय ने ही तत्त्वचिन्तामणि में प्रामाण्यवाद के विविध पक्षों पर विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। आगे चलकर नव्य-न्याय की दो शाखायें हो गई- 1. मैथिल-शाखा और 2. नवद्वीप-शाखा। उन दोनों शाखाओं के जिन आचार्यो ने 'तत्त्वचिन्तामणि' पर टीकायें की है, सभी ने प्रामाण्यवाद का विस्तृत विवेचन किया है। रघुनाथ शिरोमणि (15वीं शती) ने 'तत्त्वचिन्तामणि' पर 'दीधिति' टीका लिखी जिस पर

व्यख्या करते हुए गदाधर भट्टाचार्य (17वीं शताब्दी) ने प्रामाण्यवाद के विवेचन को विकास की पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। इस युग में जो प्रकरण-ग्रन्थ न्याय पर लिखे गये हैं, उन सभी में प्रामाण्यवाद का संक्षिप्त विवेचन मिलता है। किन्तु नव्य-न्याय के ग्रंथों में जो प्रामाण्यवाद का विवेचन किया गया है, उसमें एक विशेष प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग है, शब्दचमत्कार की अधिकता है, तथा विवेचन की वह स्पष्टता नहीं, जो न्यायमञ्जरी आदि के निरूपण में उपलब्ध होती है।

वैशेषिक सम्प्रदाय में प्रामाण्यवाद

भारतीय दर्शन में वैशेषिक सम्प्रदाय प्राचीन माना जाता है। बौद्ध जनश्रुति के अनुसार वैशेषिक अत्यन्त प्राचीन है। चीनी परम्परा में भी इसकी प्राचीनता का उल्लेख मिलता है। आर्यदेव के शतशास्त्र के टीकाकार चित्मान के अनुसार वैशेषिक के प्रवर्तक का नाम उलूक था और वह बुद्ध से 800 वर्ष पूर्व हुआ था।[79] इन सब उल्लेखों से वैशेषिक के सम्प्रदाय की प्राचीनता प्रकट होती है, किन्तु वैशेषिक सूत्र जिनके रचयिता कणाद मुनि माने जाते है, इनका समय तृतीय शताब्दी का मध्यभाग माना जाता है। विद्वानों का विचार है कि वैशेषिक सूत्र न्यायसूत्र से प्राचीन है। इन सूत्रों में प्रमाणों का अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख है।[80] यहाँ प्रामाण्यवाद के विचार का कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता तथापि यह अवश्य उल्लेखनीय है कि भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद के विवेचन का बीज, जो वेद की प्रामाणिकता के विचार में निहित है वह हमें वैशेषिक सूत्रों में भी उपलब्ध होता है- 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'।[81]

वैशेषिक सूत्रों पर कोई क्रमबद्ध प्राचीन भाष्य नहीं मिलता। डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वैशेषिक दर्शन पर रावणभाष्य लिखा गया था, जो आज उपलब्ध

नहीं है।[82] वैशेषिक पर सबसे प्राचीन भाष्य प्रशस्तपाद भाष्य है, जिसमें प्रत्येक सूत्र की व्याख्या नहीं की गई अपितु वैशेषिक सूत्रों के प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त निबन्ध में निरूपण किया गया है। प्रशस्तपाद के समय के बारे में अनेक विवाद हैं। बोडास का कथन है कि वह वात्स्यायन से प्राचीन है,[83] दूसरी ओर फैडेगन का कथन है कि प्रशस्तपाद वात्स्यायन से अर्वाचीन है[84] रैण्डल ने भी इसी मत का समर्थन किया है।[85] प्रशस्तपाद भाष्य में भी प्रामाण्यवाद का निरूपण नहीं किया गया, केवल वेद और स्मृति के प्रामाण्यवाद का निरूपण करते हुए इतना उल्लेखमात्र किया गया है कि वेद इत्यादि का प्रामाण्य वक्ता के प्रामाण्य की अपेक्षा रखता है इससे यही परिणाम निकाला जा सकता है कि प्रशस्तपाद ने वेद का परतः प्रामाण्य स्वीकार किया है। प्रत्यक्ष आदि के प्रामाण्य के विषय में यहाँ कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता।

वैशेषिक सम्प्रदाय में सूत्रों की अपेक्षा भी 'प्रशस्तपाद भाष्य' का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इसी हेतु प्रशस्तपाद भाष्य पर अनेक महत्त्वपूर्ण टीकायें लिखी गईं। इनमें श्रीधर की 'न्यायकन्दली' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका समय ग्रन्थ के अन्त में दिया गया है, वह ई0 संवत् है। इससे स्पष्ट ही है कि श्रीधर, वाचस्पति मिश्र के कुछ बाद ही हुए हैं, इन्होंने प्रशस्तपादभाष्य की व्याख्या करते हुए प्रामाण्यवाद का स्पष्ट विवेचन किया है।[86] ऐसा प्रतीत होता है कि इनका विवेचन वाचस्पति मिश्र की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित एवं विशद है, इन्होंने प्रथमतः वेद का परतः प्रामाण्य सिद्ध किया है फिर मीमांसक के स्वतः प्रामाण्य का उल्लेख करते हुए प्रामाण्य के स्वरूप पर विचार किया है। इसके अनुसार प्रामाण्य का स्वरूप है 'यथार्थपरिच्छेदकत्वं प्रामाण्यम्' अर्थात् यथाभूत अर्थ का निश्चय करना ही ज्ञान का प्रामाण्य कहलाता है। प्रामाण्य का स्वरूप दिखलाकर, श्रीधराचार्य ने उत्पत्ति, ज्ञप्ति और कार्य में

प्रामाण्य के स्वतस्त्व का उल्लेख करते हुए, स्वतः प्रामाण्य का जोरदार युक्तियों से खण्डन किया है तथा परतः प्रामाण्य की स्थापना की है। श्रीधर का यह विवेचन न्याय-सम्प्रदाय से मिलता-जुलता ही है, यह संक्षिप्त एवं विशद है किन्तु न्यायमञ्जरी जैसा सर्वांगीण एवं विस्तृत नही।

न्याय-वैशेषिक का परतः प्रामाण्यवाद

स्वतः प्रामाण्यवाद का खण्डन करने के साथ-साथ जयन्त भट्ट ने प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः होते हैं इस न्याय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। नैयायिक के एतद्विषयक मन्तव्य को वाचस्पति मिश्र ने भी अत्यन्त संक्षिप्त और स्पष्टरूप में प्रस्तुत किया है। इन दोनों के विवेचन का संक्षेप में अभिप्राय यह है:- प्रामाण्य का परतः ही निश्चय होता है। मनुष्य की प्रवृत्ति दो प्रकार के पदार्थो में हुआ करती है एक दृष्ट पदार्थो में और दूसरी अदृष्ट पदार्थो के लिये। दृष्ट पदार्थ भी दो तरह के होते हैं- एक अनभ्यासदशापन्न और दूसरे अभ्यासदशापन्न। प्रवृत्ति के लिए अर्थ का यथार्थज्ञान अनिवार्य नहीं है अपितु अर्थ की प्रतीतिमात्र से उसमें प्रवृत्ति हो जाती है, क्योंकि कहीं-कहीं अर्थ के सन्देह से भी बुद्धिमानों की प्रवृत्ति देखी जाती है।

संशयमात्र से ही व्यक्ति की प्रवृत्ति हो जाती है, इस पर विचार करते हुए जयन्त भट्ट ने दिखलाया है कि यहाँ संशय का अर्थ उभयकोटिक ज्ञान नहीं है अपितु अप्रामाणिक ज्ञान है अतएव जहाँ शुक्ति में रजत की प्रतीति होती है वहाँ भी मनुष्य संशय से प्रवृत्त होता है, ऐसा कहा जा सकता है। यद्यपि यहाँ उभयकोटिक ज्ञान नहीं है और एककोटिक ज्ञान ही हो रहा है तथापि प्रामाण्य के निश्चय का उपाय न होने से इसे संशय के अन्तर्गत ही मान लिया जाता है। ऐसे ज्ञान के लिए संशय शब्द का व्यवहार औपचारिक है, अथवा यह कहा जा सकता है कि प्रथम दशा में

यह ज्ञान न प्रामाणिक रूप में जाना गया है और न अप्रामाणिक रूप में। दोनों रूपों में ग्रहण न किये जाने के कारण यह संशय ही है, अथवा निश्चय का निमित्त न होने से तथा संशयजनक सामग्री के विद्यमान होने से ऐसे स्थलों पर संशय कहा जाना सम्भव ही है। इसका उपसंहार करते हुए जयन्त भट्ट कहते हैं कि ऐसा ज्ञान संशय ही होता है यह सिद्ध करने में हमारा आग्रह नहीं है, अपितु कहना यह है कि ज्ञानोत्पत्तिकाल में प्रामाण्य का ग्रहण नहीं हुआ करता और प्रामाण्य का अग्रहण रूप जो अनिश्चयात्मक ज्ञान है उसका ही यहाँ हमने संशय शब्द से उल्लेख किया है और उस संशय से ही लौकिक जनों के समस्त व्यवहार सिद्ध हो जाते हैं उनके लिए प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य-ग्रहण की आवश्यकता नहीं पड़ती।[87]

जिन पदार्थो के लिए मनुष्य प्रथमतः प्रवृत्त होता है वे अनभ्यासदशापन्न कहलाते है यदि उनमें प्रवृत्त होकर यह ज्ञान के अनुसार फल को प्राप्त कर लेता है तो उसकी प्रवृत्ति सफल कही जाती है, यही प्रवृत्ति-सामर्थ्य कहलाता है। इसके द्वारा यह निश्चित हो जाता है कि जिस ज्ञान से प्रवृत्ति हुई है वह ज्ञान प्रमाण है। दृष्ट पदार्थो में एक दूसरी तरह के पदार्थ भी होते हैं जिन्हे अभ्यासदशापन्न पदार्थ कहते हैं जैसे हम प्रतिदिन अपने शरीर को देखते हैं, शरीर के विषय में जो हमारा ज्ञान होता है उस ज्ञान की प्रामाणिकता के लिये प्रवृत्ति-सामार्थ्य तक जाने की आवश्यकता नहीं होती, अपितु जिस ज्ञान में प्रवृत्ति-सामर्थ्य के द्वारा प्रामाण्य का अनुमान किया जा चुका है, उसके सजातीय होने मात्र से ही इस अभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय कर लिया जाता है।

वेद द्वारा प्रतिपादित जो ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ है वे अदृष्टार्थक है, उनसे अदृष्ट स्वर्ग फल की प्राप्ति होती है। उसके प्रतिपादक वेद का प्रवृत्तिसामर्थ्य के बिना ही निर्धारित किया जाता है, किन्तु

वे भी स्वतः प्रमाण नहीं माने जाते अपितु प्रथमतः प्रवृत्ति–सामर्थ्य से वेद के दृष्टार्थक भाग आयुर्वेद आदि के प्रामाण्य का निश्चय कर लिया जाता है, फिर आप्तोक्त होने के कारण उसके समान जातीय ज्योतिष्टोम आदि के प्रतिपादक वेद–भाग का भी प्रामाण्य निश्चित कर लिया जाता है।[88] इस प्रकार सभी ज्ञानों का प्रामाण्य प्रवृत्ति–सामर्थ्य आदि के द्वारा अनुमान से सिद्ध होता। यह भी उल्लेखनीय है कि नैयायिक के मतानुसार तो ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय नामक मानस–प्रत्यक्ष से हुआ करता है। जब हम किसी घट आदि पदार्थ को 'अयं घटः' इस रूप में जानते है तो इसके पश्चात् 'अहं घटं जानामि' (मैं घट को जानता हूँ) इत्यादि मानस ज्ञान (अनुव्यवसाय) हुआ करता है। इस मानस–प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान का ग्रहण हो जाता है। किन्तु ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण अनुव्यवसाय द्वारा नहीं होता अपितु फल ज्ञान इत्यादि के द्वारा हुआ करता है। इसलिये प्रामाण्य का ग्रहण परतः होता है, यह मानना पड़ता है।

फलज्ञान को ही प्रवृत्ति–सामर्थ्य अथवा अर्थक्रिया आदि नामों से पुकारा जाता है।[89] यहाँ मीमांसक की ओर से यह दोष दिया जाता है कि यदि फलज्ञान के द्वारा प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होगा तो फलज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय किससे होगा। इसके उत्तर में न्याय–सम्प्रदाय के कुछ आचार्यो का कथन है कि बुद्धिमान लोग फल की परीक्षा की अपेक्षा ही नहीं करते फल तो जैसा उन्हें मिल जाता है वही इष्ट हो जाता है, वे तो फल के साधन की परीक्षा करते हैं, जैसे कि प्यासे को जल का ज्ञान होता है उससे जल लेने के लिए प्रवृत्ति हो जाती है फिर जल को प्राप्त कर लेता है और पी लेता है। पीने से पिपासा की शान्ति हो जाती है। इतने मात्र से ही प्रमाता कृतकृत्य हो जाता है, फिर वह पिपासा की शान्ति रूप फल की तो परीक्षा करता नहीं।[90] अतः फलज्ञान के

प्रामाण्य की परीक्षा की आवश्यकता नहीं होती, फिर अनवस्था दोष का प्रश्न ही नहीं उठता।

वाचस्पति मिश्र ने इस मत का उल्लेख 'इति केचित्' इन शब्दों में किया है यह किसका मत है, ऐसा निर्देश नहीं किया। किन्तु न्यायमञ्जरी[91] को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसी प्रकार के विचार जयन्त भट्ट ने प्रकट किये हैं इससे यह संशय और भी बढ़ जाता है कि जयन्त भट्ट, वाचस्पति मिश्र से अर्वाचीन है या प्राचीन। जयन्त भट्ट का कथन इस प्रकार है– 'जो मीमांसक ने शंका की है कि अर्थ क्रिया-ज्ञान में पहले ज्ञान से क्या तात्पर्य है। अतः उसके प्रामाण्य के निश्चय के लिए भी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा होगी और अनवस्था-दोष हो जायेगा, यह भी असम्बद्ध प्रलाप है, क्योंकि समस्त प्राणियों के अनुभव के विरूद्ध है। अर्थक्रिया-ज्ञान के प्रामाण्य की कोई परीक्षा नहीं करता। जो प्रवर्तक ज्ञान होता है प्रवृत्ति की सफलता के लिए उसी के प्रामाण्य की परीक्षा की जाती है। फल (अर्थक्रिया) का ज्ञान हो जाने पर तो प्रयोजन सिद्ध ही हो जाता है, अतः उसके प्रामाण्य की परीक्षा की आवश्यकता ही नहीं रहती, फिर अनवस्था कैसे होगी? अथवा संशय न होने के कारण ही वहाँ प्रामाण्य का विचार न किया जायेगा, क्योंकि जो प्रवर्तक प्रथम ज्ञान होता है वह बिना जल के भी मरूमरीचिका में देखा गया है, इसलिए उसके विषय में लोगों को संशय हो सकता है। अर्थक्रिया-ज्ञान तो जल के मध्य में स्थित जनों को होता है। अतः वह जल के बिना नहीं हो सकता और उसमें संशय भी नहीं हो सकता। संशय न होने से, उसमें प्रामाण्य के विचार की अपेक्षा ही नहीं होती, अथवा फलज्ञान हो जाने पर विशेष का दर्शन हो जाने के कारण प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। यदि यह विशेषता क्या है तो उत्तर है कि जो पीना, स्नान करना, तर्पण करना इत्यादि कार्य हैं वे मिथ्याज्ञान से प्रवृत्त होने पर

नहीं देखे जाते, यही विशेष दर्शन है। इसी से अर्थक्रिया-ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित हो जाता है अथवा कारण की परीक्षा से अर्थक्रिया-ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है।[92]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि जयन्त भट्ट ने अनेक युक्तियों से यह सिद्ध किया है कि फलज्ञान के प्रामाण्य की परीक्षा ही नहीं करनी होती, और उसके प्रामाण्य का निश्चय विशेष-दर्शन आदि के द्वारा हो जाता है तथा परतः प्रामाण्य को मानने में किसी प्रकार की अनवस्था दोष नहीं होती। किन्तु वाचस्पति मिश्र के मतानुसार अर्थक्रियाज्ञान का प्रामाण्य भी अनुमान के द्वारा ही सिद्ध होता है। जैसा कि न्यायवार्त्तिक-तात्पर्य टीका में कहा गया है[93] कि फल ज्ञान भी अभ्यासदशापन्न ज्ञान ही है अतः तज्जातीयत्वलिंग के द्वारा इसके प्रामाण्य का निश्चय हुआ करता है और वस्तु-ज्ञान तथा सफल प्रवृत्ति दोनों ही परम्परा से अनादि है अतः अनवस्था-दोष भी नहीं होगा। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र तथा जयन्त भट्ट ने अर्थक्रिया-ज्ञान से ही प्रामाण्य का निश्चय होता है, यह प्रतिपादित किया है और अपने इस प्रतिपादन का आधार इस 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्' भाष्य को ही बनाया है न्यायमञ्जरीकार ने तो न्याय के इस प्रामण्य-विषयक मत का उपसंहार करते हुए भाष्य के उपर्युक्त वचन को ही प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है।[94]

न्याय वैशेषिक द्वारा स्वतः प्रामाण्यवाद का निराकरण

'न्याय-वैशेषिक' सम्प्रदाय में न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने प्रामाण्यवाद के प्रायः सभी पहलुओं का विशद विवेचन किया है। अतः विशेषकर उसी के आधार पर वहाँ एतद्विषयक न्याय का मत प्रस्तुत किया जा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि जयन्त भट्ट ने कुमारिल भट्ट के प्रामाण्य वाद विषयक विवेचन को आधार बनाकर ही प्रामाण्यवाद का निरूपण किया है अतएव उन्होंने श्लोकवार्त्तिक के समान ही चार विकल्प प्रस्तुत किये है, उनमें से 'द्वयं स्वतः'

का मीमांसक के समान ही निराकरण किया है तथा 'अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं तु परतः' इस बौद्ध मत का भी प्रायः उन्हीं शब्दों में खण्डन किया है। उन्होंने मीमांसक के स्वतः प्रामाण्यवाद का जो निरूपण किया है वह मीमांसक के प्रमुख ग्रन्थ श्लोकवार्त्तिक की अपेक्षा भी कहीं अधिक विशद एवं स्पष्ट है। यहाँ बतलाया गया है कि प्रामाण्य उत्पत्ति, कार्य तथा अपने निश्चय (ज्ञप्ति) में स्वतः होता है। उसे उत्पत्ति में गुणों की अपेक्षा नहीं होती, अर्थ-प्रकाशन रूप अपने कार्य में भी यह किसी की अपेक्षा नहीं रखता और प्रामाण्य के निश्चय में भी नहीं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, मीमांसक ने पूर्वपक्षी की ओर से प्रामाण्य का निश्चय कराने वाले तीन साधनों का उल्लेख किया है- कारण-गुणज्ञान, संवादज्ञान और अर्थक्रिया-ज्ञान। किन्तु जयन्त भट्ट ने कारण-गुणज्ञान, वाचकाभाव-ज्ञान और संवाद इन तीन का निर्देश किया है[95] तथा अर्थक्रिया-ज्ञान का भी संवाद के अन्तर्गत ही उल्लेख किया है साथ ही अर्थक्रिया-ज्ञान से पूर्वज्ञान का प्रामाण्य नहीं हो सकता।[96] यहाँ अर्थक्रिया-ज्ञान से प्रामाण्य-निश्चय की व्यर्थता दिखलाई गई है तथा परतः प्रामाण्य में अनवस्था के अतिरिक्त चक्र, इतरेतराश्रय और विपर्यय आदि दोष भी दिखलाये गये हैं।[97] इस प्रकार ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य का निरूपण करके अपौरूषेय होने से वेद के स्वतः प्रामाण्य को सिद्ध किया गया है-[98] तथा मीमांसक के अनुसार अप्रामाण्य परतः होता है इसका भी व्यवस्थित रूप से विवेचन किया गया है।[99]

जयन्त भट्ट ने स्वतः प्रामाण्यवाद का निराकरण करते हुए प्रथमतः प्रमाण की स्वतोग्राह्यता का खण्डन किया है। उनकी युक्तियों का सार संक्षेप में यह है- प्रमाण अपने प्रामाण्य का स्वतः ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि किस प्रमाण से वह अपने प्रामाण्य का बोध करेगा, प्रत्यक्ष से या अनुमान से? मीमांसक के अनुसार

सभी ज्ञान परोक्ष होते हैं अतः ये प्रत्यक्ष द्वारा अपने प्रामाण्य का भी ग्रहण कैसे कर सकते हैं और ज्ञातता रूप जो ज्ञान का फल है उसके साथ भी इन्द्रिय का सन्निकर्ष हो नहीं सकता। अतः ज्ञातता की भी यथार्थता का ग्रहण इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से कैसे हो सकता है? मानस-प्रत्यक्ष से भी ज्ञातता के याथार्थ्य का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि नील के अनुभव के पश्चात् 'यह नील का अनुभव यथार्थ है' इस प्रकार का मानस-प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता और, यदि ऐसे मानस-प्रत्यक्ष को मान भी लिया जाये तो दूसरे ज्ञान से प्रामाण्य का निश्चय होने के कारण प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता कहाँ रहेगी? अनुमान के द्वारा भी ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि फलगत प्रामाण्य के निश्चय के लिए तो कोई लिंग ही उपलब्ध नहीं होगा। ज्ञान का बोध कराने मात्र के लिए ज्ञातता रूप फल को लिंग माना जा सकता है किन्तु ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय कराने के लिए तो वह भी ज्ञापक नहीं हो सकता। यदि यह मान लिया जाये कि नीलसंवेदन रूप जो अनुभव होता है उसी से ज्ञान की यथार्थता का भी बोध हो जाता है तब तो सीपी में जो रजत की भ्रान्ति होती है, वह भी यथार्थ ज्ञान होने लगेगी। अतः उत्पन्न होते ही प्रमाण अपने प्रामाण्य का निश्चय कर लेता है, यह मानना उचित नहीं।

यह प्रामाण्य उत्पत्ति में भी स्वतः नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति कारणों के अधीन हुआ करती है और प्रामाण्य भी एक कार्य ही है अतः स्वतः कैसे हो सकता है? यदि मीमांसक कहें कि ज्ञान को प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए अपनी उत्पादक सामग्री के अतिरिक्त किसी गुण की अपेक्षा नहीं होती, यही प्रामाण्य का उत्पत्ति में स्वतस्त्व है। यह भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि दो प्रकार का कार्य होता है- सम्यक् या असम्यक्। इनमें से गुणयुक्त कारणों के द्वारा सम्यक् कार्य की उत्पत्ति होती है और

दोषयुक्त कारणों के द्वारा असम्यक् कार्य की। अतः यह यथार्थ ज्ञान नामक जो सम्यक् कार्य है उसके गुणयुक्त कारणों से ही उत्पत्ति हो सकती है और ज्ञान की यथार्थता में गुण कारण होते ही है, लोक व्यवहार से भी यही बात सिद्ध होती है। आयुर्वेद के विद्वान नेत्र आदि इन्द्रियों की गुणाभिवृद्धि के लिए अनेक औषधियों का उपयोग बतलाते हैं अतः प्रामाण्य उत्पत्ति में गुणों की अपेक्षा करता है, यही मानना चाहिए।

अर्थबोधकता रूप अपने कार्य में भी प्रमाण निरपेक्ष नहीं होता। प्रश्न यह हो सकता है कि प्रमाण की सम्पूर्ण सामग्री अपना कार्य करने में निरपेक्ष रूप से समर्थ होती है या सामग्री का एक भाग अथवा उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान? इनमें यह ठीक है कि प्रमाण–सामग्री अपने ज्ञान रूप कार्य के उत्पादन में निरपेक्ष रूप से समर्थ होती है, किन्तु ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय तो उसके द्वारा नहीं हो सकता। सामग्री का कोई एक भाग तो ज्ञान रूप कार्य के उत्पादन में भी परापेक्ष ही होता है, क्योंकि एक ही कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं हुआ करती। सामग्री से उत्पन्न जो ज्ञान है वह फलरूप ही है प्रमाण नहीं। उसका कुछ अपना कार्य ही नहीं फिर सापेक्षता और अनपेक्षता का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार प्रमाण अपने कार्य में भी निरपेक्ष नहीं होता।

न्यायमञ्जरी का यह विवेचन केवल प्रतिपक्षी का खण्डनमात्र करने के लिए किया गया प्रतीत होता है।जैसा कि जयन्त की प्रवृत्ति प्रायः पाई जाती है यहाँ मीमांसक के वास्तविक सिद्धान्त का स्पर्श भी नहीं किया गया। मीमांसक का सिद्धान्त तो यह है कि प्रमाण का कार्य है अर्थ का बोध कराना, ओर उस अपने कार्य में वह किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखता।

जयन्त भट्ट ने मीमांसक के स्वतः प्रामाण्यवाद का नि[illegible] करके बौद्ध के इस सिद्धान्त का भी खण्डन किया है कि जिनका

प्रामाण्य स्वतः हुआ करता है वे दो प्रकार के ज्ञान हैं- (1) अर्थक्रिया-ज्ञान और (2) अभ्यासदशापन्नज्ञान। जैसा कि बौद्धों के प्रामाण्यवाद का विवेचन करते हुए आगे दिखलाया जायेगा, इस सिद्धान्त का स्पष्टतः उल्लेख शान्तरक्षित और कमलशील ने 'तत्त्वसंग्रह' में किया है, ऐसा प्रतीत होता है कि जयन्त भट्ट के प्रामाण्यवादविषयक विवेचन पर 'तत्त्वसंग्रह' का पर्याप्त प्रभाव पड़ा होगा, केवल बौद्ध के सिद्धान्त-निराकरण में ही नहीं अपितु मीमांसक के सिद्धान्त-निराकरण में भी यहाँ (न्यायमञ्जरी में) तत्त्वसंग्रह का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

नैयायिक भी समर्थ-प्रवृत्ति के द्वारा प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय मानते है और समर्थ प्रवृत्ति अर्थक्रिया-ज्ञान रूप ही है, उससे भिन्न नहीं । यदि इस अर्थक्रिया-ज्ञान के प्रामाण्य का भी निश्चय परतः माना जायेगा तो अनवस्था-दोष होगा। यह मीमांसक की ओर से कहा जाता है इस अनवस्था-दोष का निराकरण करते हुए बौद्ध उत्तर देते है कि अर्थक्रिया-ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है किन्तु नैयायिक तो किसी भी ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य नहीं मानता, अतः उसके अनुसार अर्थक्रिया-ज्ञान भी स्वतः प्रमाण नहीं है मीमांसक द्वारा उद्भाषित दोषों का उसने कैसे निराकरण किया है।

अभ्यासदशापन्नज्ञान स्वतः प्रमाण होता है। बौद्ध के इस मत का निराकरण करते हुए जयन्त भट्ट ने ताने के साथ कहा है कि जो अपने को बुद्धिमान समझने वाला कहता है कि अभ्यस्त विषय में ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है और अनभ्यस्त में परतः। वह 'अभ्यस्त विषय' ऐसा कहता है और स्वतः प्रामाण्य भी मानता है अतः स्वयं ही अपनी मूर्खता को नही समझता।[100] जयन्त भट्ट के उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि अभ्यास का अर्थ है क्रिया का बार-बार होना और जिस विषय में बार-बार प्रवृत्ति होती है वह अभ्यस्त विषय कहलाता है, जैसे अपने शरीर का ग्रहण अथवा

अपने घर की दीवार आदि का ज्ञान। इसमें मनुष्य की हजारों बार प्रवृत्ति होती है, अतः संवाद के द्वारा ही प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है, तब यहाँ स्वतः प्रामाण्य कहाँ रहा?

बौद्धदर्शन का प्रामाण्यवाद

बौद्ध-धर्म के प्रारम्भिक ग्रन्थों में कुछ दार्शनिक तत्त्वों के संकेत मिलते है तथापि वास्तविक रूप में दर्शनशास्त्र का विकास महायान के अन्तर्गत शून्यवाद, विज्ञानवाद और दिङ्नाग के बौद्ध न्याय में ही हुआ है।[101] वैभाषिक सम्प्रदाय के जो 'अभिधर्मकोश' आदि दार्शनिक ग्रन्थ हैं, उनमें प्रमाणों का अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख किया गया है। उस समय प्रामाण्यवाद की समस्या ही विचारकों के सामने उपस्थित नहीं हुई थी। विद्वानों का कहना है कि शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी से पहले ही होगा, क्योंकि गौतम के न्याय-सूत्रों में शून्यवाद का खण्डन किया गया है और न्यायसूत्रों की तिथि तीसरी शताब्दी के बाद नहीं रखी जा सकती। नागार्जुन ने शून्यवाद का प्रतिपादन करते हुए प्रमाणों के लक्षण आदि का ही खण्डन किया था अतः वहां भी प्रामाण्यवाद की चर्चा आरम्भ नहीं हुई। वस्तुतः बौद्धदर्शन में वसुबन्धु (सम्भवतः चतुर्थ शताब्दी) ने प्रमाणों का विवेचन आरम्भ किया, जिसे दिङ्नाग (5वीं शताब्दी) ने अपने 'प्रमाणसमुच्चय' आदि ग्रंथों में व्यवस्थित रूप दिया। दुर्भाग्य से आज 'प्रमाणसमुच्चय' अपने मूल रूप में पूर्णतया उपलब्ध नहीं है, उसके जो अंश (प्रथम परिच्छेद) तिब्बतीय आधार पर पुनर्जीवित किया गया है, उसमें प्रमाणों का निरूपण अवश्य है किन्तु प्रामाण्यवाद-विषयक कोई विचार प्रतीत नही होता। दिङ्नाग ने जिस नवीन न्यायवादी बौद्ध सम्प्रदाय को जन्म दिया था, उसे बौद्धदर्शन के प्रसिद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने दृढ़-भित्ति पर स्थापित किया। धर्मकीर्ति को दिङ्नाग का शिष्य कहा जाता है। धर्मकीर्ति ने

'प्रमाण-वार्त्तिक' नामक ग्रन्थ लिखा है तथा 'न्यायबिन्दु' नामक एक संक्षिप्त प्रकरण ग्रन्थ में बौद्ध-न्याय के अभिमत प्रमाणों का संक्षिप्त एवं स्पष्ट विवेचन किया है। यद्यपि धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणवार्त्तिक' और 'न्यायबिन्दु' में प्रामाण्यवाद का स्पष्ट शब्दों में विवेचन नहीं किया, तथापि संक्षेप में उल्लेख अवश्य किया है। उन्होंने 'प्रमाणमविसंवादिज्ञानमर्थक्रियास्थितिः, अविसंवादनम्'।[102] इस प्रकार प्रमाण का लक्षण किया है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वही ज्ञान प्रमाण कहलाता है, जिसके अनुसार अर्थक्रिया (प्रयोजन की निष्पत्ति) की प्राप्ति हो जाती है। अतः अर्थक्रिया की प्राप्ति ही किसी ज्ञान की प्रामाणिकता को सिद्ध करती है। ज्ञानों का प्रामाण्य कैसे होता है? इस विषय में बौद्ध मत का उन्होंने स्पष्ट ही उल्लेख किया है-

'स्वरूपस्य स्वतो गतिः
प्रामाण्यं व्यवहारेण।'[103]

अर्थात् ज्ञान अपने स्वरूप का स्वयं ही ग्रहण करता है किन्तु उसके प्रामाण्य का बोध व्यवहार द्वारा हुआ करता है। धर्मकीर्ति के इन शब्दों में बौद्ध के प्रामाण्यवाद संबंधी सिद्धान्त का संकेतमात्र ही है। प्रमाणवार्त्तिक के टीकाकार मनोरथनन्दी ने इन शब्दों की व्याख्या करते हुए इस मत को कुछ अधिक स्पष्ट किया है, किन्तु इस विषय में बौद्ध-न्याय का परि[illegible] शान्तरक्षित (अष्टम शताब्दी का प्रारम्भ) के 'तत्त्वसंग्रह' और कमलशील (अष्टम शताब्दी का अन्त) की 'तत्त्व-संग्रह-पञ्जिका' में दृष्टिगोचर होता है जिसका विस्तार से आगे विवेचन किया जायेगा। 'तत्त्वसंग्रह' में सामान्य रूप से प्रसिद्ध चार मतों का उल्लेख करके मीमांसक के स्वतः प्रामाण्यवाद का विस्तार से निरूपण करते हुए उसका निराकरण किया गया है। यहां भी अन्य मतों का उतना विस्तार से खण्डन नहीं किया गया, जितना मीमांसक के मत का। शान्तरक्षित ने तो 'उभयं स्वतः' या

'उभयं परतः' इन दोनों मतों का कारिकाओं में उल्लेख भी नहीं किया है केवल 'तत्त्वसंग्रहपञ्जिका' में कमलशील ने ही इनका उल्लेख मात्र करके 'श्लोकवार्त्तिक' के शब्दों में ही इन दोनों मतों का निराकरण किया है।

वस्तुतः स्वतः प्रामाण्यवाद का सिद्धान्त ही वेद की प्रामाणिकता का मुख्य आधार समझा जाता था और प्रधानतया उसका खण्डन करना ही बौद्धों का लक्ष्य था। शान्तरक्षित ने वेदों की पौरूषेयता को सिद्ध करते हुए ही प्रामाण्यवाद का प्रसङ्ग. आरम्भ किया है-

'एवं च पौरूषेयत्वे वेदानामुपपादिते
स्वतःप्रामाण्यमप्येषां प्रतिक्षिप्तमयत्नतः।''[104]

तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित की यह निजी विशेषता है कि वह किसी मत का विस्तार से यथार्थ रूप में विवेचन करने का प्रयास करते हैं। यहां स्वतः प्रामाण्यवाद का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है। कहीं-कहीं कुमारिल भट्ट के श्लोकों को मौलिकरूप में उद्धृत कर दिया गया है और कहीं उन श्लोकों को नवीन रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। 'श्लोकवार्त्तिक' की अपेक्षा 'तत्त्वसंग्रह' की शैली विशेष सरल और स्पष्ट है अतः कुमारिल के अनेक मन्तव्य यहाँ अधिक स्पष्ट हुए हैं। उदाहरणार्थ 'न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते'[105] 'श्लोकवार्त्तिक' के इस श्लोकार्द्ध से पूर्व शान्तरक्षित ने 'मेयबोधादिके शक्तिस्तेषां स्वाभाविकी स्थिता'[106] यह अर्द्धश्लोक रख दिया है, जिससे मीमांसक का मत इस एक ही श्लोक में कुछ अधिक स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार कहीं कुछ उदाहरणों द्वारा, कहीं प्रभावशाली युक्तियों द्वारा और कहीं व्यङ्ग्योक्तियों द्वारा मीमांसक के भाव को अधिक अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है, अतः प्रमाण्यवाद

विशेषकर मीमांसक और बौद्ध के सिद्धान्त के निरूपण की दृष्टि से 'तत्त्वसंग्रह' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

बौद्ध दर्शन का सिद्धान्त है कि प्रमाण पहले उत्पन्न हो जाये फिर उसमें प्रामाण्य शक्ति अन्य कारणों द्वारा उत्पन्न हो, ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि किसी पदार्थ की शक्ति उसके साथ ही उत्पन्न हो जाया करती है अतः ज्ञान की प्रामाण्य शक्ति भी ज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इस प्रामाण्य शक्ति का निश्चय स्वतः ही नहीं हो जाता अर्थात् विज्ञान के स्वरूप मात्र से या अनुभवमात्र से प्रामाण्य का ग्रहण नहीं होता।[107] यदि केवल अनुभव से ही ज्ञान की प्रामाणिकता का बोध हो जाया करता तो 'यह केशपाश है' इस प्रकार का स्पष्टतः भासित होने वाला ज्ञान भी प्रामाणिक हो जाया करता, किन्तु इसे प्रामाणिक नहीं माना जाता, क्योंकि यहां 'अनेक केशों में केशपाश के एकत्व की प्रतीति होती है'।[108]

यह प्रामाण्य शक्ति सभी ज्ञानों में निहित नहीं होती अपितु प्रामाणिक ज्ञानों में होती है और उसका निश्चय अर्थक्रिया-ज्ञान तथा हेतु शुद्धि के ज्ञान से हुआ करता हैं, जैसे अनजाने में यदि कोई विष खा लेता है तो तत्काल ही उसके मूर्छा आदि परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होते, और उस समय यह निश्चय नहीं हो पाता कि उसने विष खा लिया है किन्तु कुछ समय पश्चात् जब उसमें मूर्छा आदि देखी जाती है तो विष के परिणाम मूर्छा आदि को देखकर यह निश्चय कर लिया जाता है कि उसने विष खाया है। इसी प्रकार अनुभव से यह निश्चय नहीं होता कि कोई ज्ञान वस्तु के स्वरूप के अनुकूल ही है अर्थात् वह यथार्थ है। वस्तुतः होता यह है कि किसी ज्ञान के अनुसार अर्थक्रिया की प्राप्ति हो जाने पर उसकी प्रामाणिकता का निश्चय हो जाता है, जैसा कि शान्तरक्षित ने कहा है-

'तस्मादर्थक्रियाज्ञानमन्यद्वा समपेक्ष्यते ।
निश्चयायैव न त्वस्या आधानाय विषादिवत्।।[109]

इस कारिका में 'अन्यद्वा' यहां अन्यत् शब्द से हेतुशुद्धि ज्ञान का ग्रहण किया गया है।[110] इस प्रकार यहां प्रामाण्य-ग्रहण के दो साधन दिखलाये गये है- संवाद-ज्ञान और हेतुशुद्धि-ज्ञान। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम रूप में बौद्ध दर्शन ने प्रामाण्य के निश्चायक इन दोनों साधनों को ही स्वीकार किया था। 'श्लोकवार्त्तिक' में यद्यपि बौद्धों के मत का उल्लेख करते हुए मुख्य रूप से कारणशुद्धि का ही उल्लेख किया गया है।[111] तथापि अन्य प्रमाण के संवाद को भी प्रथम ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चायक माना गया है। 'प्रमाणवार्त्तिक' की 'मनोरथनन्दी टीका' में 'प्रामाण्यं व्यवहारेण' यहां व्यवहारेण का अर्थ 'अर्थक्रियाज्ञानेन' किया गया है।[112] इससे ऐसा आभास होता है कि सम्भवतः बौद्ध-न्याय में अर्थक्रिया-ज्ञान को ही प्रामाण्य का ग्राहक माना गया था। उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यो ने कारणशुद्धि के ज्ञान को भी प्रामाण्य का ग्राहक मान लिया, इसीलिये बौद्ध के मत का निरूपण करते हुए कुमारिल भट्ट ने कारणशुद्धि-ज्ञान का स्पष्टतः उल्लेख किया है। अतः कारणशुद्धि-ज्ञान और संवाद (अर्थक्रिया-संवाद या अर्थक्रिया-ज्ञान) इन दोनों को कुमारिल से पूर्व ही बौद्धों ने प्रामाण्य-ग्राहक मान लिया था, यह युक्तियुक्त प्रतीत होता है। किन्तु इनका किस आचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

संवाद ज्ञान का तात्पर्य है, एक ज्ञान की दूसरे ज्ञान से संगति होना। यह कई प्रकार का हो सकता है, जैसे पहले किसी ने दूर से वीणा का शब्द सुना और समझा कि यह वीणा का शब्द है, जब निकट जाकर नेत्रों से देखा तो 'यह वीणा है' इस प्रकार का ज्ञान हुआ। इस (ज्ञान) में श्रोत्रज्ञान का चाक्षुष-ज्ञान से संवाद होता

है इसीलिए इसकी प्रामाणिकता का निश्चय कर लिया जाता है। किन्तु दूसरे स्थल पर किसी व्यक्ति को 'यह जल है' ऐसा ज्ञान होता है वह जल लेने के लिए प्रवृत्त होता है और उस जल से उसे पिपासा को शान्त करना इत्यादि अर्थक्रिया की उपलब्धि हो जाती है, वहां अर्थक्रिया-ज्ञान के संवाद से प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है इसे अर्थक्रिया-संवाद कहा जाता है। 'तत्त्वसंग्रह' की कारिका में तथा 'तत्त्वसंग्रहपंञ्जिका' में अर्थक्रिया-ज्ञान का ही उल्लेख है, किन्तु आगे की कारिकाओं में सभी प्रकार के संवादों का ग्रहण है। अतः संवाद और अर्थक्रिया-ज्ञान दोनों का कहीं अर्थक्रिया-संवाद कहीं केवल संवाद आदि नामों से निर्देश किया गया है और बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार कारणशुद्धि-ज्ञान तथा अर्थक्रिया-संवाद ये दोंनों ही प्रामाण्य का निश्चय कराने वाले साधन है। पार्थसारथि मिश्र ने इन्हीं का पृथक् रूप में उल्लेख करके बौद्धों के मतानुसार तीन साधन बतलाये है- 1. कारणशुद्धि-ज्ञान 2. संवाद और 3. अर्थक्रिया-ज्ञान।[113] न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने प्रामाण्य के ग्राहक- 1. कारण-गुण-ज्ञान 2. बाधकाभाव-ज्ञान और 3. संवाद इन तीन साधनों का उल्लेख किया है।[114] उनमें संवाद के अन्तर्गत अर्थक्रिया-ज्ञान का भी ग्रहण है किन्तु बाधकाभाव ज्ञान को प्रामाण्य के निश्चय का साधन किसी बौद्ध आचार्य ने बतलाया है ऐसा विदित नहीं होता। वस्तुतः तथ्य यह है कि जैन-दर्शन में यह स्वीकार किया गया था कि बाधकाभाव से प्रामाण्य का निश्चय होता है। इस सिद्धान्त का प्रथमतः किस जैन आचार्य ने निर्देश किया था, यह ज्ञात नहीं हो सका है किन्तु आचार्य-शान्तिरक्षित ने 'न्यायावतारसूत्रवार्त्तिकवृति' में इसका वर्णन किया है।[115]

अनवस्था-दोष का निराकरण

मीमांसक ने कहा है कि जैसे प्रथम ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए अर्थक्रियाज्ञान की अपेक्षा है उसी प्रकार अर्थक्रिया-ज्ञान के

प्रामाण्य के लिए अन्य ज्ञान के संवाद की अपेक्षा होगी और इस प्रकार अनवस्था-दोष हो जायेगा।[116] इसका उत्तर देते हुए बौद्धों की ओर से कहा जाता है कि अर्थक्रिया-ज्ञान से प्रथम ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय मानने पर भी अनवस्था-दोष का प्रसंग नहीं होता क्योंकि अर्थक्रिया-ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य माना जाता है।[117] इस पर मीमांसक की ओर से यह शंका की गई कि अर्थक्रिया-ज्ञान में प्रथम ज्ञान की अपेक्षा क्या विशेषता है जो उसे स्वतः प्रमाण माना जाता है और प्रथम ज्ञान को नहीं। बौद्धों की ओर से इसका कई प्रकार से समाधान किया गया है, जैसे बौद्धों के अनुसार वहीं ज्ञान प्रमाण कहलाता है जो अविसंवादी होता है अर्थात् जिस ज्ञान के अनुसार उसी अर्थ की प्राप्ति हो जाती है, जिससे उसे जाना गया है, जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है- 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमिति' और यह अर्थ का अविसंवाद 1. अर्थक्रिया का ज्ञान तथा 2. अभ्यासदशा का ज्ञान ही है। जैसा कि शान्तरक्षित ने कहा है-

'उच्यते, वस्तुसंवादः प्रामाण्यमभिधीयते ।
तस्य चार्थक्रियाभ्यासज्ञानादन्यन्न लक्षणम् ।।'[118]

किन्हीं पदार्थो से मनुष्य की जो प्रयोजन-सिद्धि होती है वही अर्थक्रिया-प्राप्ति है जैसे अग्नि की अर्थक्रिया है- शीतापनोदन, जलाना, भोजन पकाना इत्यादि। जल की अर्थक्रिया है स्नान तथा पिपासा शान्त करना आदि। यह अर्थक्रिया की प्राप्ति अर्थसंवाद है इसी प्रकार अभ्यास ज्ञान में भी वस्तुसंवाद हो जाता है, जिस अपने हाथ आदि को हम बार-बार देखते रहते है उसमें जो 'यह मेरा हाथ है' इस प्रकार का ज्ञान होता है इस ज्ञान के साथ ही वस्तु-संवाद भी हो जाता है। अतः अभ्यास ज्ञान में भी किसी प्रकार की आशंका नहीं रहती।

अवकाश ही नहीं है। अतः वह स्वतः प्रमाण है तथा अनवस्था–दोष नहीं होता है।[120]

इस पर मीमांसकों की ओर से यह शंका की जाती है कि जिस प्रकार अग्नि आदि पदार्थ से अर्थक्रिया–ज्ञान होता है, उसी प्रकार प्रथम ज्ञान भी, फिर ज्ञान में ही प्रामाण्य का संदेह क्यों होता है? अर्थक्रिया–ज्ञान में क्यों नहीं? इस शंका का समाधान करते हुए बौद्ध कहते है कि प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य की शंका इसलिए बनी रहती है, क्योंकि उसमें भ्रान्ति के कारण की संभावना होती है।[121] भाव यह है :–

1. प्रथम ज्ञान के उत्पन्न होने के तुरन्त पश्चात् ही फल की प्राप्ति नहीं होती, जिससे फल प्राप्ति होगी या नहीं, यह संशय हो ही सकता है।
2. वह ज्ञान मिथ्या–ज्ञान के सदृश होता है।
3. वह ज्ञान निश्चित नहीं होता। यहाँ 'आदि' शब्द से अनादर (उपेक्षा) और अनभ्यास का ग्रहण किया गया है। इन्हीं हेतुओं से प्रथम ज्ञान में भ्रान्ति की संभावना है। किन्तु फल का ज्ञान हो जाने पर तो भ्रान्ति का कोई कारण नहीं रहता। अतः अर्थक्रिया–ज्ञान में स्वतः ही प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है।

बौद्धों के अनुसार जिस प्रकार अर्थक्रिया–ज्ञान स्वतः प्रमाण है, इसी प्रकार बार–बार अभ्यास के पश्चात् होने वाला ज्ञान भी स्वतः प्रमाण होता है। जब बार–बार के अभ्यास द्वारा भ्रान्ति का निमित्त दूर हो जाता है तो प्रथम ज्ञान भी अपने प्रामाण्य के निश्चय के लिए किसी दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं रखता, जैसे योगियों का ज्ञान तथा मणि, रजत, रूप्यक आदि के पारखी जौहरियों का ज्ञान होता है।

यहां कमलशील ने न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त का भी निराकरण किया है।[122] न्याय वैशेषिक का कथन है कि अभ्यासवती प्रवृत्ति में भी प्रामाण्य का परतः (अर्थात अनुमान द्वारा) ही निश्चय होता है। इस प्रकार सर्वत्र ही परतः प्रामाण्य होता है, कहीं भी स्वतः प्रामाण्य नहीं।

न्याय-वैशेषिक के इस सिद्धान्त में यह प्रश्न हो सकता है कि अनुमान के लिए व्याप्ति-ग्रहण या लिंग निश्चय कैसे होगा? यदि अभ्यास से ही लिंग का निश्चय होता है तो फिर अभ्यास ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य मानने में ही क्या आपत्ति है?

इस प्रकार उपेक्षा या अनभ्यास के कारण प्रथम ज्ञान में भ्रान्ति की शंका बनी रहती है किन्तु जब अर्थक्रिया-ज्ञान के द्वारा वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तो प्रथम ज्ञान प्रामाणिक मान लिया जाता है। ज्ञान का फल जो अर्थक्रिया-ज्ञान है उसके होने पर भ्रान्ति का कोई कारण नहीं रहता। अतः उसकी प्रामाणिकता के लिए अन्य ज्ञान के संवाद की अपेक्षा नहीं होती। अभ्यास ज्ञान के विषय में भी यही बात है उसमें भी भ्रान्ति की आशंका का कोई कारण नहीं रहता, अतः उसे भी स्वतः प्रमाण माना जाता है।[123] इस प्रकार अर्थक्रिया-ज्ञान से स्वतः प्रमाण होने के अनवस्था दोष भी नहीं रहता।

इतरेतराश्रय-दोष का निराकरण

मीमांसक की ओर से यह शंका की जाती है कि परतः प्रामाण्य मानने पर इतरेतराश्रय दोष होगा, क्योंकि बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाला व्यक्ति ज्ञान के प्रकाश का निश्चय हो जाने पर किसी कार्य में प्रवृत्त होता है और बौद्धों के अनुसार पुरूष की प्रवृत्ति के अनन्तर अर्थक्रिया की प्राप्ति हो जाने पर ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हुआ करता है अतः प्रवृत्ति और प्रामाण्य का निश्चय दोनों

एक-दूसरे पर आश्रित है, फिर मनुष्य की प्रवृत्ति ही कैसे हो सकेगी?

इसका उत्तर देते हुए बौद्धों की ओर से कहा गया है कि लोक में दो प्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है- 1. प्रयोजन सिद्धि (अर्थक्रिया के लिए) और 2. प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए।

अर्थक्रिया की प्राप्ति के लिए जो प्रवृत्ति होती है, वह संशय होने पर भी हो जाती है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जो अर्थ प्रदर्शित किया जाता है, उसी में व्यक्ति की प्रवृत्ति हो जाती है और जहां संशय होता है वहां भी प्रत्यक्ष के द्वारा अर्थ का प्रदर्शन कराया ही जाता है। यदि वहां अर्थ का बोध न होता तो संशय की भी उत्पत्ति न होती। इसलिए संशय होने पर भी व्यक्ति की प्रवृत्ति हो जाती है और उससे उसकी बुद्धिमत्ता की हानि भी नहीं होती। लोक में फल-प्राप्ति का संशय होने पर भी कृषक जन इत्यादि की प्रवृत्ति देखी ही जाती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कृषक जनों को उपाय का निश्चय होता है अतः उनकी प्रवृत्ति हो जाती है, क्योंकि जब तक फल प्राप्ति का निश्चय न हो तब तक उपाय का निश्चय कैसे हो सकता है?[124]

दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति जो प्रामाण्य निश्चय के लिए हुआ करती है वह भी ज्ञान की प्रामाणिकता का संशय होने पर भी हो सकती है। भाव यह है कि प्रवृत्ति के द्वारा ही ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है अतः प्रवृत्ति को प्रामाण्य निश्चय का उपाय माना जाता है। यद्यपि ज्ञान की प्रामाणिकता में सन्देह हो सकता है तथापि प्रवृत्ति प्रामाण्य-निश्चय का उपाय है, इस विषय में व्यक्ति को सन्देह नहीं होता इसलिए ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए संशय से भी प्रवृंत्ति हो जाती है।[125]

यह कहा जा सकता है कि प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति सोचता है- 'यदि सन्देह से प्रवृत्त होने पर भी मुझे फल की प्राप्ति हो

जाती है तो ज्ञान की प्रमाणिकता का निश्चय हो ही जायेगा, इसके बिना तो प्रामाण्य का निश्चय हो नहीं सकता' और वह कार्य प्रवृत्त हो जाता है। यह प्रवृत्ति प्रामाण्य-निश्चय का उपाय है और उपाय के बिना कोई साध्य को प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति संदेह से भी कार्य में प्रवृत्त हो जाया करते हैं।[126] इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि बौद्ध भी नैयायिक के समान यह मानता है कि ज्ञानमात्र से ही व्यक्ति कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नहीं होता। इसलिए प्रवृत्ति और प्रामाण्य-निश्चय में इतरेतराश्रय-दोष की शंका भी नहीं की जा सकती।

अर्थक्रिया-ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य में शंका का और उसका समाधान

मीमांसक का कथन है कि अर्थक्रिया-ज्ञान सदा ही प्रमाण नहीं होता। उदाहरणार्थ स्वप्न में जो अर्थक्रिया-ज्ञान होता है, वह भ्रान्त होता है, प्रामाणिक नहीं। फिर अर्थक्रिया-ज्ञान को स्वतः प्रमाण बतलाना ठीक नहीं और उसके द्वारा प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय मानना भी युक्तियुक्त नहीं। इस शंका का समाधान करते हुए शान्तरक्षित ने कहा है 'स्वप्नावस्था तो भ्रान्ति से युक्त होती है वह वाह्य-अर्थ के निमित्त से नहीं होती, अतः उस स्वप्न आदि की अवस्था में वाह्य-वस्तु से संवाद नहीं होता।'[127]

कमलशील के अनुसार शान्तरक्षित का यह समाधान वाह्यार्थवादी बौद्ध की ओर से है जो कि अर्थ के संवाद से ज्ञान की प्रामाणिकता स्वीकार करता है अर्थक्रिया-ज्ञान के संवाद से नहीं। अभिप्राय यह है कि ज्ञान द्वारा जो वस्तु प्रदर्शित की जाती है यदि वही उपलब्ध होती है तो वह ज्ञान प्रमाण कहलाता है। ज्ञान के प्रामाण्य के लिए अर्थक्रिया-प्राप्ति अपेक्षित नहीं है, स्वप्न में जैसा ज्ञान होता है वैसी वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। सभी मनुष्य मानते है कि स्वप्न की अवस्थायें भ्रान्त होती है, उनमें जो ज्ञान होता है

वह बिना विषय के ही हुआ करता है। इसलिए अर्थ-संवाद से जाग्रत अवस्था में होने वाले ज्ञानों की प्रामाणिकता बतलाई गई है। स्वप्न ज्ञान के आधार पर उसमें दोष बतलाना उचित नहीं। इसके अतिरिक्त स्वप्न में जो अर्थक्रिया-ज्ञान होता है वह बिना प्रवृत्ति के ही हुआ करता है और वह भ्रान्त होता है। जाग्रत अवस्था का ज्ञान इससे विपरीत होता है तो फिर स्वप्नावस्था के ज्ञान के दृष्टान्त से जाग्रत अवस्था में दोष कैसे दिखलाया जा सकता है?

शान्तरक्षित ने मीमांसक की शंका का समाधान करने के लिए दूसरी युक्ति यह दी है-

> "स्वसंविदितरूपाश्च चित्तचैत्ताविलक्षणाः।
> अवस्थाद्वयभेदोऽपि स्पष्टंतेन प्रतीयते ।।"[128]

अर्थात् "स्वप्न में होने वाली अर्थक्रिया स्वसंवेदनमात्र है वह विज्ञान (चित्त) तथा संस्कार (चैत्त) आदि से भिन्न नहीं है इसलिए जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं का भेद भी स्पष्ट ही है।" शान्तरक्षित कहते हैं कि विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार वाह्यार्थ की विज्ञान से भिन्न सत्ता नहीं हैं अपितु विज्ञान के आकारमात्र ही वाह्य-अर्थ है जो अनादि-वासना के कारण विज्ञान में भासित हो रहे हैं। इन वाह्य-अर्थों की अविद्याकृत व्यावहारिकी सत्ता है और इसी हेतु इनका इन्द्रिय आदि द्वारा प्रत्यक्ष भी होता है किन्तु स्वप्नावस्था में जो अर्थ भासित होते है, उनकी व्यावहारिकी सत्ता भी नहीं होती। वाह्य जगत् में उनका अविद्या से भी आभास नहीं होता, वे विज्ञान मात्र है या संस्कार मात्र है, उनका केवल स्वसंवेदन होता है। विज्ञानवादी के अनुसार सत्य के तीन स्तर है -

1. परिनिष्पन्न लक्षण अर्थात् परमार्थ सत्य जैसे विज्ञान ।
2. परतंत्र लक्षण अर्थात् व्यावहारिक सत्य जैसे वाह्य-जगत और उसके पदार्थ।

3. परिकल्पित लक्षण अर्थात् कल्पनात्मक सत्य जैसे स्वप्न के पदार्थ।

इनमें जाग्रत्–अवस्था के अर्थ व्यावहारिक रूप में सत्य हैं और स्वप्नावस्था की वस्तुएं कल्पित सत्य हैं, यह दोनों का स्पष्ट भेद है। इसकी व्याख्या करते हुए कमलशील ने कहा हैकि यदि मीमांसक का आक्षेप विज्ञानवादी बौद्ध के प्रति है तो भी उचित नहीं, क्योंकि 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्' अर्थात् जो ज्ञान वञ्चित करने वाला नहीं होता, जिस वस्तु को दिखलाता है उसी को प्राप्त करा देता है, वह प्रमाण कहा जाता है। यह व्यावहारिक प्रमाण का लक्षण है। इसमें अविसंवाद शब्द का अर्थ है– अर्थक्रिया–विषयक ज्ञान होना, क्योंकि लोग अर्थक्रिया की प्राप्ति की सिद्धि के लिये अविसंवाद शब्द का प्रयोग करते है और अर्थक्रिया की प्राप्ति के लिये ही किसी अर्थ में प्रवृत्ति हुआ करती है। यह व्यावहारिक ज्ञान जाग्रत–अवस्था में ही होता है, क्योंकि जाग्रत अवस्था के व्यवहारों को ही लोक में यथार्थ समझा जाता है, स्वप्नदशा के व्यवहारों को नहीं। यद्यपि प्रमाण के लक्षण में 'जाग्रत अवस्था का ज्ञान' यह शब्द नहीं दिया गया, तथापि यहां जाग्रत अवस्था के ज्ञान का ही ग्रहण होता है और स्वप्न ज्ञान के दृष्टान्त से उसमें दोष दिखलाना उचित नहीं है।[129]

प्रथम ज्ञान के प्रमाण तथा प्रमेय होने में भी विरोध नहीं

मीमांसक की यह शंका है कि यदि किसी प्रमाण की यथार्थता का दूसरे प्रमाण से निश्चय होगा तो प्रथम प्रमाण दूसरे प्रमाण का प्रमेय हो जायेगा। एक ही वस्तु प्रमाण तथा प्रमेय दोनों नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों में विरोध है।[130] बौद्ध की ओर से इसका उत्तर दिया गया है कि इसमें कोई विरोध नहीं, क्योंकि अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु भिन्न–भिन्न रूपों में वर्णित की जाती

है, जैसे एक ही वस्तु किसी वस्तु का कार्य होती है और दूसरी का कारण होती है। एक ही व्यक्ति किसी का पिता होता है, अन्य व्यक्ति का पुत्र होता है। जिस प्रकार संबंध भेद से एक ही वस्तु में भिन्न भिन्न व्यवहार देखे जाते है उसी प्रकार जब ज्ञान से वाह्य वस्तु जानी जाती है तो वह ज्ञान प्रमाण कहलता है प्रमेय नहीं, परन्तु जब दूसरे ज्ञान द्वारा उसकी प्रामाणिकता की व्यवस्था की जाती है तो प्रथम ज्ञान प्रमेय कहलाता है, प्रमाण नहीं। एक ही ज्ञान में ये दोनों व्यवहार बन सकते है।[131]

संक्षेप में भाव यह है कि अर्थक्रिया-ज्ञान से प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है। बौद्धों के इस सिद्धान्त में अनवस्था, इतरेतराश्रय, अनेकान्तिकता अथवा विरोध इत्यादि दोष नहीं है।

कारणशुद्धि से प्रमाण्य-निश्चय में दोष-परिहार

मीमांसक की ओर से कहा गया था कि यदि कारण की शुद्धता का ज्ञान होने पर किसी ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय होगा तो अनवस्था-दोष हो जायेगा, क्योंकि प्रामाण्य का निश्चय कारणशुद्धि के ज्ञान से होगा और कारणशुद्धि का ज्ञान भी अपने प्रामाण्य के लिए अपनी कारणशुद्धि के ज्ञान की अपेक्षा करेगा।[132] मीमांसक की इस शंका का समाधान करते हुए शान्तरक्षित ने कहा है :- *'अत्रापि सुधियः प्राहुर्नानवस्थेति येन सा।*

शुद्धिः संवादिनो ज्ञानादनपेक्षात्प्रतीयते।।'[133]

अर्थात् "इस विषय में भी विद्वान लोग कहते हैं कि अनवस्था-दोष नहीं होता, क्योंकि वह कारणशुद्धि अन्य ज्ञान की अपेक्षा न करने वाले संवादी ज्ञान से उत्पन्न होती है"।

इस विषय को स्पष्ट करते हुए शान्तरक्षित तथा कमलशील ने बतलाया है :-

ज्ञान दो प्रकार का होता है :-

1. एक तो उन वस्तुओं के विषय में जो हमारे समक्ष उपस्थित हैं
2. दूसरा उन वस्तुओं के विषय में जो हमारे सम्मुख उपस्थित नहीं हैं

इनमें से जो सन्निकृष्ट-वस्तु विषयक ज्ञान है, उसके प्रामाण्य का निश्चय अर्थ-क्रियासंवाद से हो जाता है। वहाँ प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए कारणशुद्धि का ज्ञान अपेक्षित नहीं है, क्योंकि जब तक अर्थक्रिया-संवाद से ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नहीं हो जाता, तब तक वहाँ कारण की शुद्धि का बोध नहीं हो सकता और बाद में जो कारणशुद्धि का ज्ञान होता है, उस (ज्ञान) का प्रामाण्य निश्चय के लिये कोई उपयोग नहीं।

जो अनुपस्थित या विप्रकृष्ट-वस्तु के विषय में ज्ञान होता है, उसके प्रामाण्य का निश्चय निम्नलिखित अनुमान के आधार पर हो जाता है :-

जो शुद्ध कारण से उत्पन्न ज्ञान होता है वह प्रमाण होता है, जैसे सन्निकृष्ट-अर्थ-विषयक शुक्लशंख को ग्रहण करने वाला ज्ञान है (व्याप्ति)।

यह विप्रकृष्ट-अर्थ-विषयक (स्वर्णजटित पीले शंख में) पीतशंख का ग्रहण करने वाला ज्ञान भी विशुद्ध कारणों से उत्पन्न हुआ है (पक्षधर्मता)।[134]

यहाँ यह शंका हो सकती है कि यदि अर्थसंवाद से प्रामाण्य का निश्चय होता है तो कारण की शुद्धि का निश्चय अनर्थक ही है, वह प्रामाण्य-निश्चय का हेतु नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहें कि एक बार सन्निकृष्ट विषय में अर्थक्रिया-संवाद के द्वारा कारणशुद्धि का निश्चय करके, दूसरे समय विप्रकृष्ट विषय में कारण-शुद्धि के द्वारा प्रामाण्य का निश्चय कर लिया जाता है। इस प्रकार विप्रकृष्ट-विषय में अर्थक्रिया-संवाद के द्वारा नहीं, अपितु

कारणशुद्धि के द्वारा प्रामाण्य का निश्चय होता है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि क्षणिक पदार्थों की सदा एक सी ही अवस्था नहीं होती, इसलिए इन्द्रिय आदि कारणों की शक्ति भिन्न-भिन्न समय में परिवर्तित होती रहती है।

इस शंका का समाधान करते हुए बौद्ध की ओर से कहा जाता है- ऐसा नहीं है कि पूर्वकालीन कारण शुद्धि के ज्ञान द्वारा अन्य समय में होने वाले विप्रकृष्ट-अर्थ-विषयक ज्ञान की प्रामाणिकता होती हो, अपितु तात्पर्य यह है कि जिस समय सन्निकृष्ट विषय में अर्थक्रिया-संवाद द्वारा कारणशुद्धि का निश्चय हो जाता है, उसी समय विप्रकृष्ट-देश में स्थित स्वर्णमय शंख में उन्हीं कारणों द्वारा जो पीतशंख का ज्ञान होता है, उसकी प्रामाणिकता का निश्चय कारणशुद्धि के द्वारा कर लिया जाता है। उसी अवस्था में तो कारण में परिवर्तन हो नहीं सकता। यदि उसी समय परिवर्तन होने लगे तो अर्थक्रिया-संवाद भी न हो।[135]

कमलशील का कथन है कि[136] कारणशुद्धि से प्रामाण्य का निश्चय होता है यह बात बौद्धों को भी अभिमत नहीं है, अपितु मीमांसा-सूत्रों के भाष्यकार (शबर) ने भी इस बात को स्वीकार किया है- ''यदा क्षुदादिभिरुपहतं मनो भवतीन्द्रियं वा, सौक्ष्म्या-दिभिर्वा वाह्यो विषयः, ततो मिथ्याज्ञानम्, अनुपहतेषु सम्यग्ज्ञानम्। इन्द्रियमनोऽर्थ-सन्निकर्षो हि ज्ञानस्य हेतुः, असति तस्मिन्नज्ञानम्। तद्गतो हि दोषो मिथ्याज्ञानस्य हेतुः, दुष्टेषु हि ज्ञानं मिथ्या भवति, दोषापगमे संप्रतिपत्तिदर्शनात्। कथं दुष्टावगम इति चेत् प्रयत्नेनान्विच्छन्तो न चेद्दोषमवगच्छेम, प्रमाणाभावाददुष्टमिति मन्येमहि।''[137]

अर्थात् जब मन या वाह्य इन्द्रिय भूख इत्यादि के कारण क्षीण शक्ति वाले होते है अथवा वाह्य-विषय सूक्ष्म (या विप्रकृष्ट) आदि होता है तब मिथ्याज्ञान हो जाता है अन्यथा सम्यक् ज्ञान होते है। इन्द्रिय, मन और अर्थ का सन्निकर्ष ज्ञान का कारण है क्योंकि

इनके बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इन्द्रिय आदि में स्थित दोष मिथ्याज्ञान का कारण है क्योंकि इन्द्रिय आदि के दोषयुक्त होने पर ज्ञान मिथ्या हो जाता है। दोष दूर हो जाने पर सम्यक् ज्ञान होता है। यदि कोई यह प्रश्न करे कि कारण दोषयुक्त है, यह कैसे प्रतीत होता है तो उत्तर यह है कि यदि प्रयत्नपूर्वक अन्वेषण करके भी हमें दोष नहीं दिखाई देता तो हम उसे दोष-रहित समझ लेते हैं, अन्यथा वह दोषयुक्त है'। इस कथन से भाष्यकार ने यह स्पष्ट ही बताया है कि कारणशुद्धि के ज्ञान से प्रामाण्य का निश्चय होता है, नहीं तो 'प्रयत्नेनान्विच्छन्तः' अर्थात् प्रयत्न से अन्वेषण करते हुए- इसका क्या तात्पर्य है? इसलिये मीमांसकों की स्वतः प्रामाण्य की स्थापना का उन्हीं के वचन से विरोध होता है।[138]

भाव यह है कि प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य इसी लिए निश्चित नहीं होता, क्योंकि 'उसमें यह दोषयुक्त कारण से उत्पन्न न हुआ हो,' इस प्रकार की शंका बनी रहती है। कारणशुद्धि का ज्ञान हो जाने पर उसका प्रामाण्य निश्चय हो ही जाता है और कारणशुद्धि का निश्चय अर्थक्रिया-ज्ञान से होता है।[139] अर्थक्रिया-ज्ञान स्वतःप्रमाण होता है, उसकी प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती, अतः अनवस्था-दोष की शंका भी नहीं हो सकती तथा कारणशुद्धि द्वारा प्रामाण्य का निश्चय मानने में कोई दोष नहीं है।

स्वतः प्रामाण्यवाद का निराकरण

मीमांसक के मत का निराकरण करते हुए बौद्ध की ओर से प्रश्न किया गया कि प्रमाणों की प्रामाण्य में स्वाभाविक शक्ति है, इसका क्या अभिप्राय है?

1. क्या वह शक्ति नित्य है, निर्हेतुक है इसलिए स्वाभाविक कही गयी है?

अथवा

2. वह शक्ति अनित्य है फिर भी ज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न हो जाती है फिर बाद में अन्य हेतुओं में उत्पन्न नहीं होती, अतः स्वाभाविक है। यदि पहला पक्ष अभिमत है तो चार विकल्प हो सकते हैं–

i. वह नित्य शक्ति प्रमाणों से भिन्न है।

ii. उन प्रमाणों से अभिन्न है।

iii. प्रमाणों से भिन्न और अभिन्न दोनों है।

iv. न भिन्न है न अभिन्न है।

इनमें प्रथम विकल्प सम्भव नहीं, अर्थात् वह शक्ति प्रमाणों से भिन्न है, यह कहना उचित नहीं, क्योंकि यह अनेक बार प्रतिपादित किया जा चुका है कि समस्त पदार्थों की शक्ति उनसे अभिन्न ही हुआ करती है।

यदि दूसरा विकल्प मानें कि वह शक्ति पदार्थ से अभिन्न होती है तो वह शक्ति स्वाभाविक नहीं रहेगी क्योंकि पदार्थ हेतुओं से उत्पन्न होता है, अतः अनित्य होता है यदि यह शक्ति उससे अभिन्न है तो वह भी हेतुओं से उत्पन्न होगी तथा अनित्य ही होगी।

जिन वस्तुओं का कोई हेतु नहीं होता वे हेतु–निरपेक्ष होने से सदा ही होनी चाहिए। इस प्रकार यदि प्रमाण भी हेतु–निरपेक्ष होगें तो उनसे होने वाला कार्य सदा ही होना चाहिए या फिर कभी भी न होना चाहिए। उसका कदाचित् होना नहीं बन सकता, वह तभी बन सकता है जबकि प्रमाण हेतु की अपेक्षा रखता हो, क्योंकि जब उसका हेतु होगा तब कार्य भी होगा और जब हेतु न होगा तब उसका कार्य भी न होगा। प्रमाणों का स्वरूप कदाचिद् ही निष्पन्न होता है यह प्रत्यक्ष से सिद्ध है और उसका कार्य कभी–कभी होता, इसके द्वारा प्रमाणों के स्वरूप के कदाचित् होने

का अनुमान भी किया जाता है। अतः प्रमाणों को हेतु-निरपेक्ष मानने में प्रत्यक्ष ओर अनुमान दोनों का विरोध होता है।[140]

तत्त्वसंग्रह[141] में उपसंहार रूप में कहा गया है कि यदि प्रमाणों में नित्य प्रामाण्य-शक्ति है और वह प्रमाणों से अभिन्न है ऐसा मानते है तो अनेक दोषों का प्रसंग होता है अतः प्रमाणों से अभिन्न नित्य प्रामाण्य-शक्ति उनमें नहीं रह सकती।

यदि स्वाभाविकी प्रामाण्य-शक्ति को प्रमाणों से अभिन्न माना जाता है तो नित्य-शक्ति से युक्त होने के कारण ज्ञान भी नित्य होने लगेगा। क्योंकि यदि उस शक्ति से युक्त ज्ञान अनित्य ही रहेगा तो उसकी शक्ति नित्य कैसे हो सकती है? इस प्रकार अनित्य ज्ञान में कभी शक्ति का सम्बन्ध होगा और कभी सम्बन्ध नहीं होगा। अतः उस शक्ति में दो विरुद्ध स्वभाव होने लगेंगें फिर वह एक कैसे कहीं जा सकती है।[142]

उस शक्ति को ज्ञान से भिन्न और अभिन्न (उभयात्मक) भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि भिन्न है तो अभिन्न नहीं हो सकती। इसी प्रकार वह शक्ति ज्ञान से न भिन्न है और न अभिन्न, यह भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि भिन्न न होने का अर्थ है- अभिन्न होना और, अभिन्न न होने का अर्थ है- भिन्न होना। अतः यह चतुर्थ पक्ष तृतीय पक्ष के समान ही है इस प्रकार ज्ञान में नित्य प्रामाण्य-शक्ति नहीं रह सकती।

यदि दूसरे पक्ष को स्वीकार किया जाये कि जब प्रमाण अपने हेतुओं से उत्पन्न होते है तो उन्हीं हेतुओं से उन प्रमाणों में प्रामाण्य-शक्ति भी उत्पन्न होती है बाद में अन्य हेतुओं के द्वारा वह शक्ति नहीं आती, इसीलिए वह प्रमाणों की स्वभाविकी शक्ति कही जाती है।[143] इस मन्तव्य में सिद्ध-साध्यता दोष है, क्योंकि यह तो बौद्ध भी स्वीकार करता है कि सभी पदार्थ निरंश है और जब वे अपने कारणों से उत्पन्न हो जाते है तो उत्पत्ति के पश्चात्

उनमें अन्य कारणों से किसी शक्ति का आधान नहीं किया जा सकता। और, यदि अन्य शक्ति का प्रादुर्भाव देखा जाता है तो वहाँ प्रथम पदार्थ नष्ट हो जाता है अतः प्रमाणों में उत्पत्ति के पश्चात् किसी शक्ति की उत्पत्ति न मानना सिद्ध साधन मात्र है[144] बौद्धों के मत में सभी पदार्थ क्षणिक है अतः ज्ञान भी क्षणिक ही है और वह उत्पत्ति के पश्चात् स्थित ही नहीं रहता, फिर उसमें प्रामाण्य-शक्ति का आधान कैसे किया जा सकता है?[145]

इस पर मीमांसक प्रश्न करते हैं कि यदि किसी पदार्थ में उत्पत्ति के पश्चात् शक्ति का आधान नहीं हो सकता तो बौद्ध ज्ञान का परतः प्रामाण्य क्यों मानते है? उसमें स्वाभाविक प्रामाणिकता क्यों नहीं मानते? बौद्ध इसका उत्तर देते हैं कि स्वयं ही विज्ञान के स्वरूपमात्र से अथवा अनुभवमात्र से उस प्रामाण्यशक्ति का निश्चय नहीं किया जा सकता अपितु उत्तरकालीन अर्थक्रिया-संवाद से प्रामाण्य का निश्चय होता है। अतः प्रामाण्य का निश्चय परतः ही मानना चाहिये।

स्वतः प्रामाण्यवाद में अन्य दोष

स्वतः प्रमाण्यवाद में अन्य दोष दिखलाते हुए शान्तरक्षित ने बतलाया है कि मीमांसक में एक ओर तो प्रामाण्य-ग्रहण स्वतः होता है, यह मान लिया है और दूसरी ओर यह स्वीकार किया जाता है कि सभी पदार्थो की शक्ति का बोध अर्थापत्ति द्वारा होता है, यह दोनों परस्पर विरुद्ध बातें है क्योंकि यह प्रामाण्य भी तो शक्ति रूप ही है।[146] यदि मीमांसक कहें कि ज्ञान का बोध अर्थापत्ति द्वारा ही होता है, यह ठीक है किन्तु स्वतः प्रामाण्य का तात्पर्य यह है कि कोई प्रमाण अपने कार्य अर्थात् पदार्थ का निश्चय करने में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता। इस पर कमलशील का कथन है कि यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान का ग्रहण होने पर ही प्रामाण्य का निश्चय होगा और प्रामाण्य का निश्चय

होने पर ही कोई प्रमाण अपने अर्थ का निश्चय करा सकता है। जिस ज्ञान में संशय होगा, वह अपने अर्थ का निश्चय करा ही नहीं सकता।[147] फिर प्रमाण को अपने अर्थ-निश्चय रूप कार्य में निरपेक्ष कैसे माना जा सकता है।

मीमांसक ने जो यह कहा है कि जिस प्रकार घट आदि उत्पत्ति के लिए मिट्टी आदि कारणों की अपेक्षा रखते है, किन्तु जल लाना इत्यादि कार्य में वे स्वतः ही समर्थ होते है, इसी प्रकार प्रमाण भी अपनी उत्पत्ति के लिए कारणों की अपेक्षा रखता है किन्तु उत्पत्ति के पश्चात् अपने अर्थबोधन रूप कार्य में स्वतः ही समर्थ हो जाता है। यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि मीमांसक भी ज्ञान को क्षणिक मानता है। कोई भी ज्ञान उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है फिर वह कोई कार्य कैसे कर सकता है?[148] और यदि मीमांसक ज्ञान को स्थिर या नित्य मानने लगे तो यह उसके सिद्धान्त का विरोध होगा ओर युक्तियों से भी यह बात सिद्ध नहीं की जा सकती।[149] यहाँ कमलशील ने यह भी दिखलाया है कि ज्ञान का कोई अपना कार्य ही नहीं हो सकता। मीमांसक कहते हैं कि अपने विषय का बोध कराना ही ज्ञान का कार्य है। किन्तु बोध और ज्ञान तो समानार्थक शब्द हैं, फिर ज्ञान अपने आपको ही कैसे उत्पन्न कर सकता है यदि मीमांसक कहें कि 'यह प्रमाण है' इस प्रकार का निश्चय कराना ही ज्ञान का अपना कार्य है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि संशय स्थल में इस प्रकार का निश्चय नहीं होता और भ्रान्ति के स्थल में यह ज्ञान प्रमाण नहीं है इस प्रकार का विपरीत-निश्चय हुआ करता है।

मीमांसक के स्वतः प्रामाण्यवाद के निराकरण के लिए प्रायः सभी दार्शनिकों ने जो युक्ति दी है उसे दिखलाते हुए शान्तरक्षित ने कहा है कि इस प्रकार तो ज्ञान का अप्रामाण्य भी स्वतः ही होने लगेगा। यदि अप्रामाण्य स्वतः नहीं होगा तो उसकी उत्पत्ति किसी

अन्य से भी नहीं हो सकती, इत्यादि युक्तियाँ जो स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि में मीमांसक ने दी है वे अप्रामाण्य के स्वतस्त्व को सिद्ध करने के लिए भी दी जा सकती है। अतः प्रामाण्य में ही मीमांसक ने कौन सा चमत्कार देखा है जिससे कि प्रामाण्य स्वतः होता है और अप्रामाण्य परतः।[150] यहाँ कमलशील ने यह भी बतलाया है कि मीमांसक का यह कथन– 'न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्त्तुमन्येन पार्यते' भी युक्तियुक्त नहीं है। वस्तुतः उस असत् वस्तु की ही उत्पत्ति हुआ करती है जिसकी कारण–सामाग्री एकत्रित हो जाती है किन्तु आकाशकुसुम इत्यादि जो सर्वथा असद् है उनकी उत्पत्ति इस लिए नहीं होती, कि उनके उत्पादन में समर्थ कारण–सामाग्री नहीं पायी जाती। जो वस्तु सत् है उसकी तो उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। यदि पूर्वपक्षी कहें कि कारणों द्वारा उसकी अभिव्यक्ति तो हो सकती है तो भी उचित नहीं, क्योंकि विद्यमान वस्तु की अभिव्यक्ति नहीं हुआ करती, यह वेद की अपौरुषेयता का निराकरण करते हुए प्रतिपादन किया जा चुका है।[151]

ज्ञान के प्रामाण्य का स्वतः ग्रहण मानने में एक अन्य भी बड़ा दोष है वह यह है कि यदि स्वतः ही प्रामाण्य का निश्चय हो जाये तो संशय और भ्रान्ति आदि कहीं भी न हुआ करेंगें।[152] किन्तु लोक व्यवहार में यह देखा जाता है कि 'सर्प है या रज्जु' इस प्रकार का संशय होता है, तथा रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होने के अनन्तर 'यह सर्प नहीं, रज्जु है' इस प्रकार का बाध–ज्ञान होता है। यदि ज्ञान के ग्रहण के साथ ही उसके प्रामाण्य का भी निश्चय हो जाया करता तो इस प्रकार के संशय आदि न हुआ करते। जब ..ानमात्र के होने से ही प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है तो सन्देह और विपर्यय का अवकाश कहाँ?[153] भाव यह है कि संशय आदि आरोपित ज्ञान है, निश्चयात्मक ज्ञान उसका बाधक होता है, जिस प्रकार ..ीतस्पर्श का निराकरण किये बिना उष्णस्पर्श प्रकट नहीं

होता, उसी प्रकार समारोपित ज्ञान की निवृत्ति किये बिना निश्चयात्मक ज्ञान का उदय नहीं हो सकता, निश्चयात्मक ज्ञान हो जाने पर संशय आदि कैसे हो सकते है।[154]

इसके अतिरिक्त यदि प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः निश्चित हो जाता है तो विभिन्न वादियों का प्रामाण्य के विषय में मतभेद कैसे हो सकता है? कोई प्रामाण्य को स्वतः मानता है कोई परतः, यह मतभेद ही सम्भव नहीं। कोई भी विवाद भ्रान्ति के कारण हुआ करता है और भ्रान्ति तभी होती है जब किसी ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय न हुआ हो। निश्चयात्मक ज्ञान रहने पर तो भ्रान्ति रहती नहीं। अतः प्रामाण्य के विषय में भी विवाद नहीं रहने चाहिए, किन्तु इस विषय में परस्पर विवाद देखा जाता है उससे ज्ञात होता है कि ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय स्वतः नहीं होता।[155]

लोक में अनेक स्थलों पर असफल प्रवृत्ति (विसंवाद) भी देखी जाती है जैसे किसी व्यक्ति को मरुमरीचिका में 'यह जल है' इस प्रकार की प्रतीति हो जाती है, वह वहाँ जल लेने के लिए प्रवृत्त होता है किन्तु उसे जल नहीं मिलता। यदि सभी ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः निश्चित हो जाया करता तो निश्चित ज्ञान से होने वाली प्रवृत्ति कभी भी असफल नहीं होनी चाहिए। जो व्यक्ति अप्रामाणिक ज्ञान को प्रमाण समझ कर प्रवृत्त होता है वही अपनी प्रवृत्ति में असफल हुआ करता है, अर्थात् विफल प्रवृत्ति भ्रान्ति के कारण होती है और भ्रान्ति तभी होती है जब ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण न हो। अतः ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानने पर विफल-प्रवृत्ति या विसंवाद नहीं बन सकता, किन्तु इस प्रकार का विसंवाद देखा जाता है। इससे प्रतीत होता है कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः नहीं होता।[156] यदि मीमांसक कहें कि जो व्यक्ति अप्रामाणिक ज्ञान से प्रवृत्त होता है उसकी प्रवृत्ति विफल हुआ करती है और अप्रामाण्य का निश्चय परतः ही होता है अतः स्वतः प्रामाण्य में कोई दोष नहीं।[157] इस

पर बौद्ध की ओर से कहा जाता है कि हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि मीमांसक के अनुसार सभी ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः निश्चित हो जाता है। अतः जहाँ प्रामाण्य का निश्चय न होगा वहाँ ज्ञान अप्रामाणिक हो जायेगा, क्योंकि प्रमाण और अप्रमाण एक दूसरे के अभाव रूप हैं। इस प्रकार प्रामाण्य-निश्चय के समान अप्रामाण्य का निश्चय भी ज्ञान की उत्पत्ति के अनन्तर ही हो जायेगा और अप्रमाण ज्ञान से किसी बुद्धिमान की प्रवृत्ति नहीं होगी फिर तो असफल प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती।[158] इस प्रकार ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः मानने में अनेक दोष हैं।

बौद्ध के द्वारा वेद के स्वतः प्रामाण्य का खण्डन

मीमांसक के अनुसार दो प्रकार का शब्दज्ञान प्रमाण होता है, एक तो नित्य वेद-वाक्यों से उत्पन्न होने वाला और दूसरा आप्त अर्थात् यथार्थवक्ता विद्वानों के वाक्यों से उत्पन्न होने वाला। इस दोनों प्रकार के शब्दज्ञान में कारण-दोष की सम्भावना नहीं है, अतः यह प्रामाणिक होता है जो नित्य वेद-वाक्य हैं उनमें वक्ता के निमित्त से दोष नहीं हो सकता, क्योंकि वे अपौरुषेय माने जाते है, जब कोई पुरुष उसका वक्ता ही नहीं है तो वक्ता के निमित्त से (या वक्ता पर आश्रित) होने वाले दोष नहीं हो सकते, क्योंकि वेद के अध्यापक और अध्येता सभी उसकी रक्षा में तत्पर रहते हैं। आप्तप्रणीत वाक्यों में भी दोष की सम्भावना नहीं है। आप्तजन यथार्थ-दृष्टा होते है और यथार्थवक्ता भी। अतः उनके गुणों से दोषों का निराकरण हो जाता है। इस प्रकार कारण-दोष के अभाव में इन दोनों प्रकार के वाक्यों का स्वतः प्रामाण्य सिद्ध ही है।[159]

मीमांसक के इस मत का निराकरण करते हुए शान्तरक्षित ने कहा है कि वेद की प्रामाणिकता में अनुमान बाधक है। वेद-प्रतिपादित आत्मा इत्यादि पदार्थ प्रमाण से सिद्ध नहीं होते इसलिए वेदों का प्रामाण्य नहीं हो सकता। अपौरुषेय होने से भी

वेद प्रमाण नहीं कहें जा सकते, क्योंकि यह सिद्ध किया जा चुका है कि वेद पौरुषेय हैं। अतः वक्ता के दोष से वेदों में भी दोष हो सकता है। इसलिए वेद-बोधित ज्ञान दुष्ट-कारण-जन्य है, क्योंकि जिन आत्मा आदि के प्रतिपादक वाक्यों में दोष देखा गया है, अन्य वाक्य भी उन वाक्यों (आत्मा आदि के प्रतिपादक) की तरह ही दोषपूर्ण है[160] वेद की प्रामाणिकता तभी हो सकती है जब कि यह माना जाये कि वेद के वक्ता या व्याख्याता आप्त पुरुष है।

इस पर कुमारिल भट्ट कहते हैं कि वेद-पाठ तथा वेद की व्याख्या को शुद्धि और त्रुटि रहित रखने के लिए विद्वानों ने अनेक प्रकार के प्रयत्न किये हैं। वेद के अध्ययन के अधिकारी का निश्चय, वेद का पदपाठ, स्वर-निर्धारण इत्यादि ऐसे ही प्रयत्न है, जिनके द्वारा वेद-पाठक सावधनी से वेदों का पाठ करते है। यदि वेदपाठी विद्वान दूसरों के द्वारा की गयी त्रुटियों की ओर ध्यान न देते और उनकों शुद्ध न करते तो वेदों का स्वरूप अन्यथा ही हो गया होता। किन्तु विद्वानों ने वेद के स्वरूप तथा अर्थ की सदैव रक्षा की है, तथा निर्दोष आप्तों के द्वारा ही वेद का व्याख्यान किया जाता रहा है उनमें किसी प्रकार के दोष की शंका नहीं है इसलिए वेद के अप्रामाण्य की आशंका भी नहीं हो सकती।[161]

इस पर बौद्धों का कथन है कि यह मानना कि सर्वदा हर तरह से अनेक विद्वानों द्वारा वेदों की रक्षा की गयी है, परन्तु महाप्रलय में वेद के नष्ट हो जाने पर वेद अन्यथा भी हो सकते हैं। और यदि वेद का पाठ सभी देश और कालों में समान ही होता तो वेद-पाठ के विषय में जो सन्देह देखा जाता है, वह कभी नहीं हुआ करता। बौद्ध की इस युक्ति के उत्तर में कुमारिलभट्ट का कथन है कि वस्तुतः कभी महाप्रलय होती ही नहीं।[162] मीमांसक महाप्रलय को मानते ही नहीं। किन्तु बौद्ध का कहना है कि यह जगत् सदा ऐसा ही रहता है, महाप्रलय कभी नहीं होती, इस बात

को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार बौद्ध की ओर से यह प्रतिपादित किया गया है कि यदि वेद स्वतः प्रमाण है तो उसका विनाश नहीं हो सकता अर्थात् न उसका पाठभंग हो सकता है और न अर्थ में भ्रान्ति ही और यदि वेद नित्य है तो उसका नाश भी सम्भव नहीं। यदि मीमांसक यह कहें कि वेद नित्य है किन्तु उसकी अन्यथा अभिव्यक्ति करने के कारण पाठ में त्रुटि आदि सम्भव है तो बौद्ध का उत्तर है कि कोई वस्तु नित्य है और कारणों द्वारा उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है, यह हम नहीं मानते।[163]

इसके अतिरिक्त मीमांसक ने वेद को अपौरुषेय मानकर, वेद के स्वतः प्रामाण्य में जो युक्तियाँ दी है, उन सबका निराकरण भी इसी आधार पर हो जाता है कि वेद का कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए और यदि वेदों का कर्ता माना जाये तो कर्ता के दोष से युक्त होने की आशंका के कारण वेदों को स्वतः प्रमाण नहीं माना जा सकता।

बौद्ध दर्शन के प्रामाण्यवाद का निष्कर्ष

प्रामाण्य का निरूपण करते हुए वैदिक दर्शनों के कुछ ग्रन्थों में यह कह दिया जाता है कि बौद्धों के मतानुसार ज्ञान का अप्रामाण्य स्वतः होता है प्रामाण्य परतः होता है किन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है बौद्धों को अनियम पक्ष ही अभीष्ट है जैसा कि शान्तरक्षित ने कहा है :-

''येनैकैः स्वत एवेति प्रोच्चैर्नियम उच्यते।

किन्चित्स्वतोऽन्यतः किन्चित् परैश्चानियमो मतः।।[164]

भाव यह है कि कुछ जनों अर्थात् मीमांसकों को यह नियम अभिमत है कि प्रामाण्य स्वतः ही होता है किन्तु अन्य (परैः) अर्थात् बौद्धों को अनियम अभीष्ट है कि कहीं स्वतः प्रामाण्य होता है और कहीं परतः। यहाँ 'परैः' का अर्थ कमलशील ने 'बौद्धैः'

किया है, इससे विदित होता है कि बौद्धों को अनियम-पक्ष अभीष्ट है।

इस प्रकार बौद्धों के मतानुसार किन्हीं ज्ञानों में स्वतः प्रामाण्य होता है और कहीं-कहीं परतः होता है। तत्त्वसंग्रह-पञ्जिका में इसका स्पष्ट रूप से विवेचन किया गया है कमलशील का कथन है- *यत्तु पक्षचतुष्टयमुपन्यस्य पक्षत्रये दोषाभिधानं कृतम्, तत्रापि न काचिबौद्धस्य क्षतः, नहि बौद्धैरेषां चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्टोऽनियमपक्षस्येष्टतवात्। तथाहि··· उभयमप्येतत्किन्चित् स्वतः किन्चित् परत इति पूर्वमुपवर्णितम्। अतएव पक्षचतुष्टयोपन्यासोऽप्ययुक्तः। पन्चमस्याप्यनियमपक्षस्यै सम्भवात*[165]. अर्थात् जो (दार्शनिकों ने प्रामाण्य के विषय में) चार पक्षों को प्रस्तुत करके तीन पक्षों में दोष दिखलाये हैं उसमें भी बौद्ध की कोई हानि नहीं है, क्योंकि उन चारों में से एक भी पक्ष बौद्ध को अभीष्ट नहीं, वह तो अनियम-पक्ष को मानता है अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य ये दोनों ही किसी अंश में स्वतः होते हैं और किसी अंश में परतः भी। इस प्रकार इस विषय में चार ही पक्ष बतलाना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि पाँचवां अनियम-पक्ष भी सम्भव है और यह अनियम पक्ष ही बौद्धों का अभिमत है।

बौद्ध दर्शन किन ज्ञानों को स्वतः प्रमाण मानता है और किनका प्रामाण्य परतः मानता है उसका भी कमलशील ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है,[166] जैसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, योगी का ज्ञान, अर्थक्रिया-ज्ञान और अभ्यासदशापन्न ज्ञान तथा अनुमान। इन सब ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः होता है, क्योंकि इनमें भ्रान्ति का कारण विद्यमान नहीं होता। अन्य ज्ञानों का प्रामाण्य परतः ही हुआ करता है जैसे वेद आदि से उत्पन्न होने वाला ज्ञान तथा ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान जिसमें अर्थक्रिया-ज्ञान अथवा अभ्यासदशा प्राप्त नहीं हुई है। इन दोनों के द्वारा भ्रान्ति का निराकरण कर दिया जाता है। अतः इनके

न होने पर प्रत्यक्ष-ज्ञान में भ्रान्ति की सम्भावना बनी रहती है तथा उसके प्रामाण्य का निश्चय अन्य प्रमाण के द्वारा ही होता है।

जैनदर्शन का प्रामाण्यवाद

जैन दर्शन के इतिहास का परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी के उपदेशों में प्रमाण की चर्चा नहीं थी। प्रथम शताब्दी के विद्वान आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने 'प्रवचनसार' नामक ग्रन्थ में तर्कपूर्ण शैली का आश्रय लिया और प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के सामान्य लक्षणों का निरूपण किया। उनके उत्तराधिकारी आचार्य उमास्वाति (प्रथम शताब्दी) ने भी 'तत्त्वार्थसूत्र' में ज्ञानों का विवेचन किया।[167] इसके पश्चात समन्त भद्र स्वामी (तृतीय शताब्दी) तथा सिद्धसेन दिवाकर (छठीं शती) नामक जैन दर्शन के प्रसिद्ध आचार्यों ने प्रमाणों का लक्षण और विभाजन का उल्लेख किया। 'न्यायावतार' नामक ग्रन्थ[168] में प्रमाण का लक्षण करते हुए बाध रहित ज्ञान को प्रमाण कहा गया है।[169] इस लक्षण में प्रामाण्यवाद का कुछ बीजमात्र खोजा जा सकता है, किन्तु सिद्धसेन ने प्रामाण्यवाद का विवेचन नहीं किया है न्य या वत र सूत्र वार्तिक वृत्ति में आचार्य शन्तिरक्षित ने प्रामाण्यवाद का विवेचन अवश्य किया है उन्होने 'बांधविवर्जितम्' न्यायावतार सूत्र के इस पद की व्याख्या करते हुए यह बतलाया है कि अबाधित होने से ही कोई ज्ञान प्रमाण होता है।

इनके अनन्तर अष्टम शतादी में जैन दर्शन के उज्जवल नक्षत्र अकलङ्क का उदय हुआ। जैन दर्शन में अकलङ्क का वही स्थान है जो बौद्ध दर्शन में धर्मकीर्ति का। जैन परम्परा में अकलङ्क को जैन न्याय के प्रस्थापक के रूप में स्मरण किया जाता है इनके द्वारा स्थापित न्याय-मार्ग का 'अकलङ्क न्याय' नाम से उल्लेख किया जाता है। उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने इन्हीं के

मत का अनुसरण किया है। इनके महत्त्व का इससे भी अनुमान किया जा सकता है कि इनकी रचनाओं पर विविध टीकायें लिखी गई हैं। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वार्थवार्त्तिक', 'न्यायविनिश्चिय', 'लघीयस्त्रय' और 'प्रमाण-संग्रह' इत्यादि है। इन्होंने जैन न्याय के प्रमाणों का विशद विवेचन किया है तथा प्रामाण्यवाद की भी चर्चा की है।

जैनदर्शन के प्रामाण्य-विषयक सिद्धान्त का उल्लेख सम्भवतः सर्वप्रथम विद्यानन्द (800 ई.) ने 'प्रमाण-परीक्षा' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार किया है-

'प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्परतोऽन्यथा'[170]

अर्थात् ज्ञान का प्रामाण्य अभ्यासदशा में स्वतः सिद्ध होता है और अनभ्यास दशा में परतः होता है। इसके अनन्तर माणिक्यनन्दी (800 ई.) ने भी अपने 'परीक्षामुख' नमक ग्रन्थ में 'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च',[171] इस प्रकार जैन दर्शन के प्रामाण्य सम्बन्धी सिद्धान्त का उल्लेख किया है। इस सिद्धान्त का विशद विवेचन प्रभाचन्द्र के ग्रन्थों में मिलता है। प्रभाचन्द्र का समय अनिश्चित है। विद्वानों का विचार है कि 900 से 1150 ई. के मध्य में किसी समय प्रभाचन्द्र का उदय हुआ होगा।[172] इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट से अर्वाचीन है क्योंकि 'न्याय-कुमुदचन्द्र' में न्यायमञ्जरी के मतों का खण्डन किया गया है तथा उसमें न्यायमञ्जरी का एक पद्य भी उद्धृत किया गया है।[173] प्रभाचन्द्र ने न्याय-कुमुदचन्द्र में सरल तथा सरस भाषा में प्रामाण्यवाद का निरूपण किया है। इनका यहाँ निरूपण जयन्त भट्ट की अपेक्षा भी अधिक स्पष्ट है किन्तु इसमें विशेष रूप से मीमांसक के 'प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं परतः' इस सिद्धान्त का निराकरण किया गया है, उसी के प्रसङ्ग में तद्विषयक जैन सिद्धान्त का भी निरूपण कर दिया गया है।

प्रभाचन्द्र के 'न्याय-कुमुदचन्द्र' तथा 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' (परीक्षामुख की टीका) दोनो ही ग्रन्थों में भारतीय दर्शन के प्रायः सभी सिद्धान्तों का सरल और स्पष्ट वर्णन है। जैनदर्शन के सिद्धान्तों का तो इनमें अत्यन्त विशद वर्णन है। फलतः जैनदर्शन के प्रामाण्यवाद सम्बन्धी मन्तव्य को जानने के लिए भी यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैनदर्शन के बाद के ग्रन्थों में भी प्रामाण्यवाद का जो विवेचन मिलता है उस पर प्रभाचन्द्र का प्रभाव दिखलाई देता है। उत्तरकालीन आचार्यों में हेमचन्द्र सूरि (12वीं शताब्दी) ने प्रमाणमीमांसा में अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु विशदरूप में जैनदर्शन के प्रामाण्यवाद का निरूपण किया है।

जैनदर्शन के प्रामाण्यवाद-विषयक सिद्धान्त का हेमचन्द्र सूरि ने 'प्रमाणमीमांसा' में संक्षिप्त एवं स्पष्टरूप में निरूपण किया है। इस सिद्धान्त का सारांश यह है कि- (क) अर्थक्रिया-ज्ञान तथा अभ्यासदशापन्न ज्ञान और (ख) अनुमान इनके प्रामाण्य का निश्चय स्वतः होता है परन्तु (ग) अनभ्यासदशापन्न ज्ञान तथा (घ) शब्दज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है।

क. अर्थक्रिया-ज्ञान तथा अभ्यासदशापन्न ज्ञान का स्वतः प्रामण्य- हेमचन्द्र सूरि का कथन है कि- 'प्रामाण्यनिश्चयः क्वचित् स्वतः यथाऽभ्यासदशापन्ने स्वकरतलादिज्ञाने, स्नानपानावगाहनोदन्योपशमादावर्थक्रियानिर्भासे वा प्रत्यक्षज्ञाने।'[174]

भाव यह है कि प्रामाण्य का निश्चय कहीं स्वतः ही हो जाता है, जैसे अभ्यासदशापन्न अपनी हथेली आदि का ज्ञान है क्योंकि हम बार-बार अपनी हथेली आदि को देखने के अभ्यासी हो जाते है। हथेली के ज्ञान में भ्रान्ति आदि का अवसर नहीं रहता और उस ज्ञान के प्रामाण्य में शंका ही नहीं होती, इसलिये अभयासदशापन्न ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है। इसी प्रकार जल आदि में जब स्नान तथा जल पीने से पिपासा की शान्ति इत्यादि

अर्थक्रिया-विषयक-प्रत्यक्षज्ञान होता है वह भी स्वतः प्रमाण होता है। अभ्यासदशापन्न ज्ञान और अर्थक्रिया-ज्ञान स्वतः प्रमाण क्यों होते हैं? इसका निरूपण करते हुए बतलाया गया है- 'नहि तत्र परीक्षाकाङ्.क्षास्ति प्रेक्षावताम्'। अभिप्राय यह है कि बुद्धिमान् जन जिस ज्ञान के प्रामाण्य की परीक्षा करना चाहते हैं अथवा जिसके विषय में संशय होता है उसके प्रामाण्य का निश्चय दूसरे ज्ञान के द्वारा हुआ करता है, किन्तु अभ्यासदशापन्न ज्ञान तथा अर्थक्रिया-ज्ञान की परीक्षा बुद्धिमान् लोग नहीं करते। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति को 'यह जल है' ऐसा ज्ञान होता है, धूम और पिपासा से व्याकुल हुआ वह उस जल के लेने के लिए प्रवृत्त होता है वहाँ उसे जल प्राप्त होता है, उस जल से स्नान, पान आदि कार्य करके उसके संताप और पिपासा की शान्ति हो जाती है बस इतने मात्र से ही वह कृतकृत्य हो जाता है फिर वह तपन और पिपासा की शान्ति के अनुभव की परीक्षा नहीं करता, इसलिए यह अर्थक्रिया-ज्ञान स्वतः प्रमाण ही है।[175]

ख अनुमान का स्वतःप्रमाण्य - हेमचन्द्र सूरि का कथन है कि सभी अनुमान ज्ञान स्वतःप्रमाण होते है अनुमान ज्ञान में किसी प्रकार के संशय या भ्रान्ति आदि की शंका ही नहीं हो सकती, क्योंकि वह तो अविनाभावी (अव्यभिचरित, नियत) लिंग से उत्पन्न होता है लिंग का ज्ञान उसके हुए बिना नहीं हो सकता और वह लिंग या व्याप्य अपने साध्य (व्यापक) के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार नियम हेतु से होने के कारण अनुमान ज्ञान में भ्रान्ति की आशंका ही नहीं हो सकती, अतः वह स्वतः प्रमाण होता है।[176]

ग अनभ्यासदशापन्न ज्ञान का परतः प्रामाण्य- जो प्रत्यक्ष ज्ञान अभ्यासदशापन्न नहीं होता, अर्थात् प्राथमिक ज्ञान होता है, उसके प्रामाण्य का निश्चय किसी दूसरे ज्ञान से ही हुआ करता है। यही

ज्ञान प्रमाण होता है, जो अर्थ में नियत होता है अर्थात् जैसा अर्थ है वैसा ही होता है। क्योंकि प्रथम ज्ञान का अर्थ के साथ नियत होना निश्चित नहीं होता, इसलिये उसकी यर्थाथता स्वतः निश्चित नहीं की जा हेमचन्द्र सूरि ने उसके प्रामाण्य का ग्रहण कराने वाले तीन साधनों का उल्लेख किया है। उनमें प्रथम है- तद्विषयक संवादकज्ञान, जब किसी व्यक्ति को श्रोत्र द्वारा यह ज्ञान होता है कि 'यह वीणा का शब्द है' फिर वह उस वीणा को आँखों द्वारा भी देख लेता है तो यहाँ नेत्रज्ञान के संवाद से श्रोतज्ञान का प्रामाण्य निश्चित हो जाता है। द्वितीय साधन है- अर्थक्रिया-ज्ञान, जिसका विस्तार से ऊपर निर्देश किया जा चुका है। तृतीय साधन है उस अर्थ के अविनाभवी अन्य पदार्थ का ज्ञान, जैसे किसी व्यक्ति ने दूर से देखा कि 'यह जल है' किन्तु उसे अपने ज्ञान में संशय हो गया फिर उसने वहाँ 'कमल खिले देखे' या 'जलपक्षी बैठे हुए देखे' अथवा 'मेढकों की ध्वनि' सुनी तो उसने निश्चय किया कि यहाँ अवश्य जल है यहां अविनाभवी अर्थ के ज्ञान से जल ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है।

अनभ्यासदशापन्न ज्ञान का परतः प्रामाण्य मानने में भी अनवस्था दोष नहीं होता, क्योंकि ये तीनों प्रकार के ज्ञान, जिनसे प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है स्वतः प्रमाण माने गये हैं।[177]

इस विषय में प्रभाचन्द्र ने पूर्वपक्षी की कुछ शंकाओं का भी नवीन ढंग से समाधान किया है[178], मीमांसक की शंका है कि अर्थक्रिया-ज्ञान भी स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि बिना पदार्थ के भी स्वप्न अवस्था में अर्थक्रिया-ज्ञान देखा जाता है इसका समाधान करते हुए प्रभाचन्द्र ने बतलाया है[179] कि यद्यपि जाग्रत् अवस्था में भी पदार्थ के बिना उसका ज्ञान हो सकता है जैसे शुक्ति में रजत ज्ञान तथापि उस अवस्था में अर्थक्रिया-ज्ञान

का विसंवाद नहीं देखा जाता। इसलिये उसमें व्यभिचार की शंका न होगी और उसके प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए अन्य अर्थक्रिया-ज्ञान की अपेक्षा न होगी। शास्त्रों में प्रामाण्य का विचार जाग्रत अवस्था के आधार पर ही किया जाता है कोई भी बुद्धिमान् जागरण-दशा को स्वप्नदशा के समान नहीं समझता, इसलिये स्वप्नदशा की समानता से अर्थक्रिया-ज्ञान में स्वतः प्रामाण्य दोष दिखलाना संगत नहीं है।

अर्थक्रिया-ज्ञान से प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य मानने में दो आपत्तियाँ और उठाई गई हैं। प्रथम यह कि इस प्रकार मणि की प्रभा में जो मणि ज्ञान हो जाता है वह भी प्रमाण होने लगेगा तथा द्वितीय यह कि खोटे सिक्के में 'यह सिक्का है' इस प्रकार की जो बुद्धि होती है वह भी प्रमाण होने लगेगी।

इनका निराकरण करते हुए प्रभाचन्द्र ने बतलाया है कि यहां जो अर्थक्रिया-ज्ञान होता है उससे प्रथम ज्ञान के अप्रामाण्य का निश्चय हुआ करता है प्रामाण्य का नहीं, क्योंकि अर्थक्रिया-ज्ञान से प्रथम ज्ञान का संवाद नहीं होता, जैसे वातायन में दिखलाई देने वाली मणि की प्रभा में 'यह मणि है' इस प्रकार का ज्ञान होता है, किन्तु कक्ष के अन्तर्देश में स्थित मणि में अर्थक्रिया-ज्ञान होता है अतः ये दोनों ज्ञान भिन्न देश में स्थित अर्थ के ग्राहक हैं फिर दोनों का संवाद कैसे हो सकता है? इसी प्रकार यदि खोटे सिक्के में 'यह सिक्का है' या 'खोटा सिक्का है' इस प्रकार का ज्ञान हो तो खरे सिक्के की जो अर्थक्रिया (पूरा मूल्य मिलना आदि) है तो उसको तो वह कर नहीं सकता, अतः प्रथम ज्ञान की अप्रामाणिकता ही सिद्ध हो जायेगी। इस प्रकार अर्थक्रियाज्ञान से प्रथम ज्ञान के प्रामाण का निश्चय होता है इसमें किसी शंका का अवसर ही नहीं।[180]

घ शाब्दज्ञान का परतः प्रामाण्य-- हेमचन्द्र सूरि के अनुसार शाब्ज्ञान दो प्रकार होता है (1) दृष्टार्थक और (2) दूसरा अदृष्टार्थक।

(1) जिस शाब्द का बोध्य अर्थ इस लोक में दिखलाई देता है वह शब्द ज्ञान दृष्टार्थक है उसका अर्थ के साथ नियत सम्बन्ध जानना कठिन है क्योंकि कभी शाब्दज्ञान के अनुसार अर्थ की प्राप्ति होती है कभी नहीं भी। इसलिए ऐसे शाब्दज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय अन्य ज्ञान के संवाद से हुआ करता है, जैसे किसी साधारण जन (अनाप्त) ने कहा कि 'इस वन में शेर है' सुनने वाले व्यक्ति को उसके ज्ञान की यथार्थता का निश्चय नहीं हुआ, किन्तु वन में जा कर उसने सिंह की गर्जना से अथवा दूर से देख कर 'यहाँ सिंह है' ऐसा जान लिया। इस द्वितीय ज्ञान के संवाद से प्रथम ज्ञान की प्रमाणिकता का निश्चय हो जाता है।

(2) जिस शब्द का बोध्य अर्थ इस लोक में नहीं उपलब्ध होता, वह अदृष्टार्थक है; जैसे मुक्ति, स्वर्ग आदि विषयक वचन। ऐसे शाब्दज्ञान के प्रामाण्य के निश्चय की प्रक्रिया यह है प्रथम तो किसी वक्ता के वचन से उत्पन्न होने वाले चन्द्रग्रहण इत्यादि विषयक ज्ञान का संवाद के द्वारा प्रामाण्य निश्चित कर लिया जाता है, जिस समय उसने चन्द्रग्रहण इत्यादि बतलाया था, उसी समय उसकी प्राप्ति से उसके वचन की यथार्थता मान ली जाती है और उसे आप्त (यथार्थवक्ता) समझ लिया जाता है फिर उसका जो वचन अदृष्टार्थ विषयक होता है उसकी प्रामाणिकता आप्त होने के कारण ही मान ली जाती है उसमें अन्य ज्ञान के संवाद की अपेक्षा नहीं रहती। इस प्रकार सभी शब्द से उत्पन्न होने वाले ज्ञानों का परतः प्रामाण्य होता है।[181]

गौतम ने न्यायसूत्र में वेदों का प्रामाण्य आप्त प्रामाण्य के कारण ही बतलाया है। उनका यह अभिप्राय है कि वेद के एक

अंश जो मन्त्र, आयुर्वेद इत्यादि है जो ऐहिक अर्थों का प्रतिपादन करते हैं उनकी प्रामाणिकता सिद्ध हो जाने से वे आप्त प्रणीत है, ऐसा निश्चय कर लिया जाता है तथा आप्त प्रणीत होने से ही अन्य अदृष्टार्थक वेद भाग की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।[182] आचार्य हेमचन्द्र ने भी गौतम की युक्ति का ही अनुसरण किया है, किन्तु मन्त्र, आयुर्वेद को दृष्टान्त न बनकर ज्योतिषशास्त्र आदि को दृष्टान्त बनाया है इससे प्रतीत होता है कि जैन आचार्यों का मन्त्र, आयुर्वेद की अपेक्षा ज्योतिषशास्त्र की ओर अधिक झुकाव रहा होगा। इस बात का समर्थन धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु से भी होता है। अवश्य ही धर्मकीर्ति के पूर्वकालीन या समकालीन जैन आचार्य अपने तीर्थंकरों की सर्वज्ञता की सिद्धि ज्योतिषशास्त्र के यथार्थ उपदेश के द्वारा करते रहें होंगें, क्योंकि धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में कहा है- 'अत्र वैधर्म्योदाहरणम्-यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान तथा ऋषभवर्द्धमानादिरित।'[183]

आचार्य शान्ति का प्रामाण्य-विषयक एक विशिष्ट मन्तव्यः

सिद्धसेन दिवाकर[184] के बाधविवर्जितम् पद की व्याख्या करते हुए शान्ति आचार्य ने न्यायसूत्रवार्त्तिकवृत्ति[185] में अबाधितत्त्व या बाधकाभाव को ही प्रामाण्य का निश्चय कराने वाला माना है। उनका कथन है कि अबाधितत्त्व एक ऐसा धर्म है जिससे दृष्टार्थविषयक ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध हो सकता है और अदृष्टार्थक ज्ञान का भी, जैसे कि दृष्ट विषय में जहाँ यह देखा जाता है कि अत्यन्त सामीप्य, दूरी अथवा आशु-भ्रमण आदि विषय सम्बन्धी दोष नहीं हैं चलना आदि आधार दोष नहीं है, रतौंधी आदि नेत्र दोष नहीं है, और न ही मन में प्रमाद, मन्दता (मिद्ध, Sloth) आदि है, वहाँ कारणों के गुणों का विचार करने से ज्ञान का अबाधित होना निश्चित हो जाता है और वह ज्ञान प्रमाण मान लिया जाता है इस प्रकार दृष्ट विषय में बाधक का

अभाव होने से ही किसी ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है। अदृष्टार्थक ज्ञान में भी जब कोई व्यक्ति यह देखता है कि इसका उपदेष्टा रागद्वेष से युक्त नहीं है और इस विषय से अनभिज्ञ भी नहीं है तो वह आप्त के गुणों का विचार करता है और इस प्रकार शाब्दज्ञान का बाधरहित होना निश्चित कर लेता है वहाँ अन्य ज्ञान से संवाद न होने पर भी ज्ञान की यथार्थता का निश्चय करके बुद्धिमानों की प्रवृत्ति हो जाती है।[186]

इन स्थलों में कारणों के गुणों का निश्चय होने से ज्ञान का अबाधित होना सिद्ध होता है और उसे प्रमाण मान लिया जाता है किन्तु कहीं-कहीं ज्ञान के अबाधित होने से कारण के गुणों का निश्चय हुआ करता है और ज्ञान की प्रामाणिकता मान ली जाती है। फिर भी यहाँ इतरेतराश्रय दोष नहीं होता क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में प्रामाण्य के निश्चय की ये दोनो प्रक्रियायें देखी जाती है और संसार के अनादि होने से भी यहाँ इतरेतराश्रय दोष नहीं होता।[187] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि बाध ज्ञान के द्वारा संशय और भ्रान्ति आदि का निराकरण हो जाया करता है तथा संशय और भ्रान्ति आदि का निराकरण हो जाने पर ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है।[188] इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि बाधरहित ज्ञान ही प्रमाण है।[189]

मीमांसक के प्रामाण्य सम्बन्धी सिद्धान्त का निराकरण

मीमांसक ने वेदों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये ही प्रमाणों के स्वतः प्रामाण्य-सम्बन्धी नवीन सिद्धान्त की उद्भावना की थी। इसका विविध वैदिक और अवैदिक दर्शनों द्वारा कहीं पूर्ण रूप से कहीं आंशिक रूप से विरोध किया गया था। जैनदर्शन ने बौद्धदर्शन के समान ही आंशिक रूप में स्वतः प्रामाण्यवाद का खण्डन किया है, क्योंकि यहाँ किन्हीं ज्ञानों को स्वतः प्रमाण माना ही गया है।

न्याय कुमुदचन्द्र में प्रथमतः मीमांसक के प्रामाण्य सम्बन्धी सिद्धान्त का संक्षिप्त एवं विशद विवेचन किया गया है। इस विवेचन में कुमारिल के 'श्लोकवार्त्तिक' के मन्तव्यों का सार निहित है उसके कई श्लोक भी उद्धृत किये गये है, साथ ही जयन्त की न्यायमञ्जरी का भी यहाँ प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। मीमांसक के मत का निराकरण करते हुए भी यहाँ प्रायः 'तत्त्वसंग्रह' और 'न्यायमञ्जरी' के समान ही युक्तियाँ दी गई हैं, नवीन युक्तियाँ खोजने पर भी परिलक्षित नहीं होती। अतः उनको दोहराना यहाँ अनावश्यक प्रतीत होता है फिर भी प्रभाचन्द्र के प्रामाण्य विषयक विवेचन की एक अपनी निजी विशेषता है। यहाँ पूर्वपक्षी के मत की स्थापना स्पष्ट शब्दों में की गई है।उसके निराकरण के लिये अनेक विकल्पों की उद्भावना करके उनका खण्डन किया गया है। इससे पूर्व आचार्यो द्वारा वर्णित विषय भी विशेष स्पष्ट हो गया है। प्रभाचन्द्र की भाषा दार्शनिक है तथापि उसमें लालित्य दृष्टिगोचर होता है। इसलिये प्रभाचन्द्र के प्रामाण्यवाद विषयक विवेचन का महत्त्व भुलाया नहीं जा सकता।

वेद के प्रामाण्य का निराकरण

आचार्य शान्तिरक्षित ने बाधकाभाव से प्रामाण्य का निश्चय होता है, यह मानकर वेद की प्रमाणिकता का खण्डन किया है और अर्हत की प्रमाणिकता सिद्ध की है-

वेदेश्वरादयो नैव प्रमाणं बाधसंभवात्।
प्रमाणं बाधवैकल्यादर्हस्तत्त्वार्थवेदनः।।[190]

अभिप्राय यह है कि वेद और ईश्वर प्रमाण नहीं हो सकते क्योंकि उनमें बाध की संभावना है, किन्तु तत्त्व को जानने वाले अर्थात् सर्वज्ञ जो अर्हत् हैं उनके वचनों में किसी प्रकार का बाध नहीं देखा जाता, अतः वे प्रमाण हैं। मीमांसक ने वेदों का प्रामाण्य अपौरूषेय होने के कारण स्वीकार किया है। आचार्य

शान्ति ने उसका अनेक युक्तियों से विस्तार पूर्वक खण्डन किया है। उन्होने 'न्यायावतार सूत्रवार्त्तिक' में मुख्य युक्ति यह दी है कि जैसे एक वस्त्र जो दूसरे वस्त्र के समान होता है वह उसके जैसे कारणों से उत्पन्न हुआ करता है इसी प्रकार वेद के वाक्य उन वाक्यों के समान ही है जो पुरूषकृत माने जाते है अतः वेद के वाक्य भी अपौरूषेय भी नहीं हो सकते।[191] यहाँ उन्होने विस्तार से यह प्रतिपादित किया है कि वेदवाक्यों में जैन आदि के शास्त्रों के वाक्यों की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है, अतः उन्हें अपौरूषेय नहीं कहा जा सकता। वेदों की अपौरूषेयता प्रत्यक्ष या अनुमान आदि से सिद्ध नहीं की जा सकती, शब्दों को नित्य भी नहीं माना जा सकता है। यदि किसी प्रकार वेदों को अपौरूषेय मान भी लिया जाय तो भी अपौरूषेय होने से वे प्रमाण नहीं हो सकते क्योंकि कारण के गुणों के आधार पर ही कोई ज्ञान प्रमाण होता है। वेदों में कर्ता के गुणों का आभास होने से वे प्रमाण नहीं होगें। इसलिए वेद किसी प्रकार भी प्रमाण नहीं हो सकते।

जैनदर्शन के प्रामाण्यवाद का निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि जैनदर्शन का प्रामाण्यवाद सम्बन्धी सिद्धान बौद्ध विद्वान शान्तिरक्षित द्वारा प्रतिपादित बौद्ध सिद्धान्त के समान ही है। इसके अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो की अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः होते है तथा अर्थक्रिया-ज्ञान का भी स्वतः प्रामाण्य होता है। यद्यपि आचार्य हेमचन्द्र के उपर्युक्त विवेचन में दोनों का विवेचन नहीं किया गया है केवल प्रामाण्य के ही स्वतः और परतः होने का निर्देश किया गया है[192] तथापि जैनदर्शन के अन्य ग्रन्थों से यह विदित होता है कि जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः और परतः हुआ करते है।

देवसूरि (12वीं शताब्दी) ने 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' नामक ग्रन्थ में बतलाया है 'तदुभयमुत्पत्तौ परतः एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति'[193] अर्थात् वे दोनों प्रामाण्य और अप्रामाण्य उत्पत्ति में परतः होते हैं किन्तु ज्ञप्ति में कहीं स्वतः और कहीं परतः होते हैं। इससे स्पष्ट ही है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य उत्पत्ति में परतः होते है अर्थात् प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणों के अधीन होती है और अप्रामाण्य की दोषों के। किन्तु ज्ञप्ति में ये दोनो ही कहीं स्वतः होते हैं, कहीं परतः अर्थात् अभ्यासदशा में स्वतः होते हैं और अनभ्याशदशा में परतः।

यहाँ प्रश्न यह है कि जैन-दर्शन अनेकान्तवादी है। यदि यह अनेकान्तवाद प्रत्येक सिद्धान्त में व्यापक है तो किसी ज्ञान को केवल प्रमाण और अन्य को केवल अप्रामाण्य कैसे कहा जा सकता है? अनेकान्तवाद के अनुसार तो प्रत्येक ज्ञान प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों होना चाहिए।

विद्यानन्द ने इस शंका का समाधान किया है। और इसी प्रसंग में विद्यानन्द ने अकलङ्.क की युक्तियों के आधार पर भ्रम ज्ञान को भी प्रामाणिक बताया है। नैयायिक कहते हैं कि नेत्र में रतौंधी आदि इन्द्रिय दोष होने के कारण चन्द्रद्वय दिखाई देते हैं, यह भ्रान्ति ज्ञान है। जैन दार्शनिकों का कथन है कि यहाँ पर संख्या के विषय में विसंवाद (असंगति) होने के कारण संख्या-सम्बन्धी ज्ञान अप्रामाणिक है परन्तु चन्द्रमा के स्वरूप-अंश में तत्त्वज्ञान, [illegible]- और अविसंवादि ज्ञान होने के कारण उस अंश में वह ज्ञान अप्रमाणिक ही है। इसलिए कोई भी भ्रम (मिथ्या) ज्ञान सर्वथा वह भ्रम ही है ऐसा नहीं माना जा सकता। किसी ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का सांकर्य हुआ करता है।[194]

यदि किसी ज्ञान में प्रामाण्य या अप्रामाण्य निश्चित नहीं है तो एक ज्ञान को प्रामाणिक और दूसरे ज्ञान को अप्रामाणिक कैसे कहा जा सकता है? इसके उत्तर में अकलंक कहते हैं कि संवाद या विसंवाद के प्रकर्ष की अपेक्षा होने पर प्रामाण्य या अप्रामाण्य का व्यवहार किया जाता है, जहां संवाद का आधिक्य होता है वहां प्रामाण्य होता है और जहां विसंवाद का उत्कर्ष होता है वहां अप्रामाण्य होता है जैसे कस्तूरिका आदि द्रव्यों में अन्य स्पर्श आदि गुणों की अपेक्षा गन्धगुण की मात्रा का उत्कर्ष होने से वह गन्धद्रव्य कहलाता है इसी प्रकार पृथ्वी में भी रूप, रस आदि की अपेक्षा गन्ध का आधिक्य होने से पृथ्वी का लक्षण 'गन्धवती पृथ्वी' (गन्धवत्त्वं पृथिव्या लक्षणं) यह किया जाता है। इसी तरह यथार्थ ज्ञान में विसंवाद की अपेक्षा संवाद का उत्कर्ष होता है, अतः उन्हें प्रमाण कहा जाता है। मिथ्याज्ञानों में संवाद की अपेक्षा विसंवाद की मात्रा अधिक होती है अतः उन्हें व्यवहार में अप्रमाण कहा जाता है[195] जैसाकि अकलङ्.क ने कहा है-

'तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धादिद्रव्यवत्'।[196]

जैन दर्शनिकों के सिद्धान्त के अनुसार एक और दृष्टि से भी भ्रम में प्रामाण्य और अप्रामाण्य का विचार किया जा सकता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार प्रमाण का लक्षण है- 'स्वपरावभासकं ज्ञानं प्रमाणम्' अर्थात् दीपक की तरह अपने को और दूसरे पदार्थ को प्रकाशित करने वाला ज्ञान प्रमाण होता है इस प्रकार [illegible] जैन दार्शनिकों के अनुसार सभी भ्रम ज्ञान भी स्वपरसंवेदी है। इसलिए वे स्वाशं में प्रमाण और परांश में अप्रमाण है 'स्वरूपे सर्वमभ्रान्तं पररूपे विपर्ययः।[197]

इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि वस्तुतः जैन दर्शन ने अपने अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के अनुसार प्रामाण्यवाद के विषय में भी कुछ अंशों में सभी ज्ञानों में प्रामाणिकता तथा कुछ

में अप्रमाणिकता मानी है, कुछ ज्ञानों के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय स्वतः और कुछ ज्ञानों के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय परतः माना है।

सांख्य योग का प्रामाण्यवाद

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में सम्भवतः कपिल मुनि का सांख्य-सम्प्रदाय सबसे प्राचीन है। सांख्य-सम्प्रदाय की सबसे प्राचीन पुस्तक ईश्वरकृष्ण रचित 'सांख्यकारिका' मानी जाती है जिसका समय ईसा की तृतीय शताब्दी से पूर्व ही सम्भव है। सांख्य-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को जानने के लिए यही ग्रन्थ मुख्य आधार है। सांख्यकारिका में 'प्रमाण' का लक्षण नहीं दिया गया, किन्तु प्रमाणों का विभाजन अवश्य किया गया है-

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्ट प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धि।।[198]

वहां प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के लक्षण भी दिये गये है 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः' इस कथन में प्रमाण का प्रयोजन निहित है तथा इस कथन की समानता वात्स्यायन भाष्य के प्रारम्भिक वाक्य 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तो' से की जा सकती है फिर भी यहाँ प्रामाण्यवाद के विवेचन का कोई संकेत नहीं मिलता। सांख्यकारिकाओं पर कई टीकाएँ उपलब्ध होती है जिनके समय के विषय में विद्वानों का विवाद है। सांख्यकारिका पर प्रसिद्ध टीका वाचस्पति मिश्र ने (9वीं शती) की है, जिसका नाम 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' है और जो सांख्य-सम्प्रदाय का विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। सांख्यतत्त्वकौमुदी ने वावस्पति मिश्र ने प्रमाण्यवाद का [illegible] से विवेचन नहीं किया, किन्तु यहाँ जो प्रमा का लक्षण किया है उसमें यथार्थज्ञान का स्पष्ट स्परूप मिलता है वहाँ प्रमा का लक्षण है-

'असग्दिधाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः बोधश्च पौरूषेयः फलं प्रमा।'[199] अर्थात् 'सन्देहरहित, भ्रान्तिरहित और अज्ञात- अर्थविषयक जो चित्तवृत्ति है और उससे अभिन्न जो पौरूषेय बोध है वह प्रमा कहलाता है'।

यहाँ यथार्थज्ञान का स्वरूप अवश्य दृष्टिगोचर होता है, किन्तु यह नहीं ज्ञात होता कि उसकी यथार्थता का निश्चय कैसे होता है? आप्त-वचन की व्याश्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने वेद के स्वतः प्रामाण्य का निर्देश किया है, [200] जिसमें सांख्य दर्शन के प्रामाण्यवाद-विषयक सिद्धान्त का बीज अवश्य उपलब्ध होता है।[201]

सांख्यसूत्र जिनका नाम सांख्यप्रवचनसूत्र है 14वीं शताब्दी में रचे गये है, इन सूत्रों पर पहिली वृत्ति 'अनिरूद्ध' (15वीं शती) की है और सबसे महत्त्वपूर्ण भाष्य 'विज्ञान भिक्षु' (16वीं सदी) का है।[202] सांख्यसूत्रों में 'प्रमा' तथा 'प्रमाण' का लक्षण इस प्रकार उपलब्ध होता है:-

'द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतम यत् तत् प्रमाणम'।[203]

यहाँ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का स्वरूप भी दिखलाया गया है[204] इसी प्रकार प्रमाणों का प्रयोजन भी दिखलाया गया है[205] किन्तु प्रामाण्यवाद सम्बन्धी कोई संकेत इन सूत्रों में नहीं मिलता। अनिरूद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षु के भाष्य में भी प्रामाण्यवाद का विवेचन नहीं किया गया।

योगदर्शन का प्रामाण्यवाद

योगसूत्रों के रचयिता का समय पाँचवी शताब्दी माना जाता है। योगसूत्र पर व्यासकृत भाष्य सबसे अधिक प्रामाणिक है, जिसका समय अनिश्चित ही है। योगव्यासभाष्य पर वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्ववैशारदी' टीका है और विज्ञानभिक्षु ने व्यासभाष्य पर 'योगवार्त्तिक' टीका लिखी है जहाँ तक दार्शनिक विषय का प्रश्न

है योगदर्शन के अपने स्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है उसका विकास सांख्य के सिद्धान्तों के आधार पर हुआ है, इसलिए योग के साथ सांख्य का भी उल्लेख किया गया है।

योगसूत्रों में प्रमाण का लक्षण नहीं दिया गया, केवल पत्यक्ष, अनुमान और आगम तीन प्रमाण बतलाये गये है– 'प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमाः प्रमाणानि'।[206] इन सूत्रों में प्रामाण्यवाद सम्बन्धी कोई संकेत नहीं मिलता है। व्यासभाष्य में भी प्रामाण्य का उल्लेख नहीं किया गया। यहाँ 'विपयर्ययों मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्'[207] इस सूत्र के भाष्य में यह कहा गया है, 'स कस्मान्न प्रमाणम्? यतः प्रमाणेन बाध्यते, 'भूतार्थविषयत्वात् प्रमाणस्य' अर्थात् वह विपर्यय प्रमाण क्यों नहीं माना जाता? उत्तर है, क्योंकि प्रमाण द्वारा उसका बाध हो जाता है और प्रमाण वह ज्ञान कहलाता है जिसका अर्थ विद्यमान होता ह। इस भाष्य से यह संकेत अवश्य मिलता है कि अर्थ के अनुकूल होने वाला ज्ञान ही प्रमाण है किन्तु उसके प्रामाण्य का ग्रहण किस साधन से होता है, इस पर यहाँ विचार नहीं किया गया। वहाँ ईश्वर का निरूपण करते हुए यह अवश्य बतलाया गया है कि ईश्वर में निरतिशय उत्कर्ष होता है, इसमें शास्त्र ही प्रमाण है और वह शास्त्र ईश्वर के द्वारा निर्मित होने के कारण प्रमाण होता है–[208] 'तस्य शास्त्र निमित्तम, शास्त्रं पुंनः किंनिमित्तम्, प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्,' अर्थात् ईश्वर में निरतिशय उत्कर्ष है इसमें शास्त्र प्रमाण है, फिर शास्त्र की उत्पत्ति में क्या निमित्त है? उसमें प्रकृति सत्त्व ही निमित्त है। प्रस्तुत भाष्य की 'तत्त्वैशारदी' नामक टीका में वाचस्पति मिश्र ने वेद के प्रामाण्य पर कुछ अधिक विवेचन किया है, जिससे योगदर्शन के प्रामाण्यवादविषयक मन्तव्य के विषय में कुछ परिणाम निकाला जा सकता है, जिसका निरूपण आगे किया गया है।

सांख्य दर्शन प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो को स्वतः मानता है या परतः, इस विषय में सांख्य दर्शन के मूल ग्रन्थों में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु प्राचीन काल से ही विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के ग्रन्थों में प्रामाण्यवाद का विवेचन करते हुए, जिन चार मतों का निर्देश किया गया उनमें एक मत है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः होते है। कुमारिल ने लिखा है-केचिदाहुर्द्वयं स्वतः[209] इसी प्रकार 'तत्त्वसंग्रहपञ्जिका में कमलशील ने भी इस मत का उल्लेख किया है[210] न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने भी प्रामाण्यवाद का प्रारम्भ करते हुए बतलाया है-

'किं विज्ञानानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं चेति द्वयमपि स्वतः'[211]

यद्यपि इन ग्रन्थों में यह उल्लेख नहीं किया गया कि 'द्वयं स्वतः' इस मत को मानने वाला कौन दार्शनिक सम्प्रदाय है तथापि उत्तरकालीन टिप्पणियों में इसे सांख्य का मत बतलाया गया है। सम्भवतः टिप्पणीकारों ने सर्वदर्शनसंग्रह के आधार पर ही यह लिखा है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में स्पष्ट शब्दों में ही यह बतलाया है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दानों को मानने वाला सांख्य सम्प्रदाय है- 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः'।[212]

सर्वदर्शनसंग्रहकार ने किस आधार पर ऐसा कहा है इसका मूल स्रोत उपलब्ध नहीं हो सका है। हो सकता है कि वह ग्रन्थ आज नष्ट हो गये हैं जिसमे इस बात का निरूपण किया गया था।

जैसा कि निर्देश किया गया है, वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी से सांख्य के प्रामाण्यवाद-विषयक सिद्धान्त का कुछ संकेत अवश्य मिलता है- 'आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु' सांख्यकारिका के इस अंश की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने निम्न लिखित शब्दों में वेद के स्वतः प्रामाण्य का निरूपण किया है- 'तच्च

स्वतः प्रमाणम् अपौरूषेयवेदवाक्यतनितत्वेन सकलदोषाऽऽशङ्काविनिर्मुक्तेर्युक्तं भवति' यहाँ वेद ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य का यह हेतु दिया गया है कि वह समस्त दोषों की आशंका से रहित है, क्योंकि अपौरूषेय जो वेदवाक्य हैं उनके द्वारा उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि निर्दोष होने से ही वेदवाक्य-जनित ज्ञान प्रमाण है। यह युक्ति श्लोकवार्त्तिक की युक्तियों के समान ही है। इसी प्रकार सभी दोष रहित ज्ञानों का स्वतः प्रामाण्य अभीष्ट है, यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। किन्तु सांख्य के अनुसार अप्रामाण्य भी स्वतः होता है, यह बात कैसे प्रसिद्ध हुई, इसका कोई स्त्रोत उपलब्ध नहीं होता।

जैसा कि ऊपर निदेश किया गया है, योग-व्यास-भाष्य की 'तत्त्ववैशारदी' नामक टीका में वाचस्पति मिश्र ने जो वेद-प्रमाण्य के विषय में विवेचन किया है, उससे तो ऐसा प्रतीत होता है कि योगशास्त्र के अनुसार प्रामाण्य स्वतः नहीं होता, अपितु सफल प्रवृत्ति से ही ज्ञानों के प्रामाण्य का निश्चय होता है- 'शास्त्रं पुनः किन्निमित्तम्? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्।'[213]

व्यासभाष्य के इस कथन की व्याख्या करते हुए वाचस्पतिमिश्र लिखते हैं- 'अयमभिसन्धिः, मन्त्रायुर्वेदेषु तावदीश्वरप्रणीतेषु प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थाव्यभिचारविनिश्चयात् प्रामाण्यं सिद्धम्'।[214] भाव यह है कि ईश्वररचित जो मन्त्र और आयुर्वेद हैं उनमें सफल प्रवृत्ति से अर्थ का अव्यभिचार निश्चित किया जाता है तथा उनकी प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।

यहाँ स्पष्ट ही प्रवृत्ति-सामर्थ्य को प्रामाण्य-निश्चय का साधन बतलाया गया है जो न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के समान ही है। इससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः योग-सम्प्रदाय में न्याय-वैशेषिक के समान सफल प्रवृत्ति से ही ज्ञानों का प्रामाण्य

स्वीकार किया गया था। किन्तु इस विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

जैसा कि अभी बतलाया गया है कि सांख्य के ग्रन्थों में भी ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, जिससे सांख्य सम्प्रदाय का प्रामाण्य–विषयक सिद्धान्त जाना जा सके। सांख्य सम्प्रदाय सत्कार्यवादी है, इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि ज्ञानों का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वतः न होगा तो वह किसी अन्य के द्वारा भी नहीं किया जा सकता। पर यह बात तो केवल प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए ही कही जा सकती है। अतः इससे प्रामाण्य और अप्रामाण्य का उत्पत्ति में स्वतस्त्व सिद्ध हो सकता है फिर सांख्य के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य ज्ञप्ति में भी स्वतः होते है, इस मन्तव्य का क्या आधार है? यह ज्ञात नहीं होता। वस्तुतः सांख्य के प्रामाण्यवाद–विषयक सिद्धान्त के विषय में विशेष गवेषणा की आवश्यकता है।

वेदान्त का प्रामाण्यवाद

वेदान्त दर्शन का मूलस्रोत उपनिषद् हैं, जिनके अनुसार इस विश्व के नाना रूप आकार वाले पदार्थ सर्वदा परिवर्तित होते रहते हैं, उनका मूल आधार 'ब्रह्म ' है जो अखण्ड, एकरस तथा अद्वैत है और वही ब्रह्म प्रत्येक प्राणी की अन्तरात्मा है। उपनिषदों के इन्हीं सिद्धान्तों ने दार्शनिक प्रक्रिया का रूप धारण किया, तथा इस दर्शन को वेदान्त दर्शन कहा जाने लगा। वेदान्त सूत्रों के रचयिता बादरायण माने जाते हैं। ये वेदान्तसूत्र या ब्रह्मसूत्र सम्भवतः मीमांसासूत्र के समकालीन है, क्योंकि इनमें परस्पर एक दूसरे के संकेत पाये जाते है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मीमांसासूत्र तृतीय शताब्दी के बाद के नहीं हो सकते, वेदान्तसूत्र का भी यही (तृतीय शताब्दी से पूर्व) समय है। वेदान्त में यह

बतलाया गया है कि उस ब्रह्म का में शास्त्र ही प्रमाण है[215] अन्य प्रत्यक्ष आदि का वह विषय नहीं है। जब शास्त्र ही ब्रह्म का प्रमाण है तो अन्य प्रमाणों का वर्णन निरर्थक ही था, सम्भवतः इसीलिये ब्रह्मसूत्रें में प्रमाणों का उल्लेख भी नहीं किया गया, फिर प्रामाण्यवाद की चर्चा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः प्रामाण्यवाद का विवेचन तर्कशास्त्र का कार्य है, वेदान्त में तो तर्क को हेय बतलाया गया है केवल शास्त्रानुकूल तर्क को ही यहाँ उपादेय माना गया है यही कारण है कि वाचस्पति मिश्र जैसे विद्वान ने न्याय [216] और मीमांसा[217] (विधिविवेक) की टीकाओं में तो प्रामाण्यवाद का विशद विवेचन किया है, किन्तु भामती–टीका में नहीं। किन्तु जब 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र का यह अर्थ किया जाता है[218] कि उस ब्रह्म में शास्त्र ही प्रमाण है तो इससे यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि वह शास्त्र स्वतः प्रमाण है सम्भवतः इसके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्रों में प्रामाण्यवाद के विषय में कोई संकेत नहीं है।

ब्रह्मसूत्रों पर कोई प्राचीन भाष्य उपलब्ध नहीं होता। शंकराचार्य (सप्तम या अष्टम शताब्दी) कृत 'शारीरकभाष्य' ही आज ब्रह्मसूत्रों का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाष्य समझा जाता है। वस्तुतः ब्रह्म मात्र को परमार्थ सत् मानने वाले शंकराचार्य के अनुसार समस्त प्रमाण–प्रमेय–व्यवहार अविद्याकृत है।[219] प्रमाणों की केवल व्यावहारिक सत्ता है, परमार्थसत् वस्तु जो ब्रह्म है, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं है, अतः प्रमाणों का निरूपण और सामान्यरूप से उनके प्रामाण्य का विचार यहाँ उपादेय कैसे हो सकता था? फिर भी 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र के भाष्य में प्रामाण्यवाद सम्बन्धी कुछ संकेत अवश्य मिलते है। जब इस सूत्र का यह अर्थ किया जाता है कि ऋग्वेद आदि शास्त्र का सर्वज्ञ ब्रह्म ही कारण है[220] तो सर्वज्ञता के कारण ये ऋग्वेद आदि

प्रमाण है ऐसा भासित होता है। इसी प्रकार इसी सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने कहा है- 'शास्त्रादेव प्रमाणात् जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्म धिगम्यते'[221]

तथा 'तत्तु समन्वयात्' ब्रह्मसूत्र 1.1.4 के भाष्य में शंकराचार्य ने कहा है 'न चानुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यम्' इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि शास्त्र स्वतः प्रमाण है।

'शारीरकभाष्य' पर अनेक टीकाएं लिखी गई है जिनमें वाचस्पतिमिश्र कृत 'भामती' टीका का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस टीका में प्रामाण्यवाद का वैसा विशद विवेचन नहीं मिलता, जैसा कि 'न्यायवार्त्तिकतात्पर्य-टीका' में उपलब्ध होता है तथापि प्रामाण्य-सम्बन्धी कुछ नवीन सूचनायें हमें यहाँ अवश्य मिलती हैं, जिनका बाद के अनुच्छेद में वर्णन किया जायेगा। इन टीका ग्रन्थों के पश्चात् वेदान्त के प्रकरण ग्रन्थों का समय आता है। इन प्रकरण-ग्रन्थों में से अनेक में प्रमाणों का स्वतन्त्र रूप से विशद विवेचन किया गया है उनमें प्रामाण्यवाद का भी कहीं विस्तार से और कहीं संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ '[illegible]ह' नामक ग्रन्थ में प्रामाण्यवाद का विस्तृत विवेचन है। वह विवेचन कुछ जटिल अवश्य है। वेदान्त सम्प्रदाय के अभिमत प्रामाण्यवाद का संक्षिप्त एवं स्पष्ट विवेचन धर्मराजाध्वरीन्द्रकृत 'वेदान्त-परिभाषा' में मिलता है। वेदान्त-परिभाषा का समय लगभग 17वीं शताब्दी है।

वाचस्पति मिश्र की प्रामाण्य के विषय में उद्भावना

'[illegible]स्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र के 'शारीरकभाष्य' की भामती टीका में यह तथ्य प्राप्त होता है कि यद्यपि मीमांसक और वेदान्ती दोनो ही वेद को अपौरूषेय मानते है, किन्तु दोनों की अपौरूषेय[illegible] में अन्तर है। मीमांसक के अनुसार सृष्टि अनादि है, वेद गुरू शिष्य [illegible] से अनादिकाल से चले आ रहे है, इनका

कोई कर्त्ता नहीं है। अतः ये अपौरूषेयता है किन्तु वेदान्तियों के अनुसार सृष्टि और प्रलय होती रहती है, यह संसार प्रवाह से अनादि और रचना में पुरूष की स्वतन्त्रता का न होना ही वेद की अपौरूषेयता कही जाती है तथा अपौरूषेय होने से ही वेद प्रमाण है।[222]

वेदान्तदर्शन प्रमाणों को मानता है। उन प्रमाणों का कार्य है' व्यावहारिक तत्त्वों का बोध कराना और पारमार्थिक तत्त्व ब्रह्म का ज्ञान कराना। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, ब्रह्मवाद का विशद विवेचन उपनिषदों में उपलब्ध होता है, उपनिषदों के सिद्धान्तों के आधार पर ही वेदान्त दर्शन का विकास हुआ है 'ब्रह्म में शास्त्र ही प्रमाण है वही ब्रह्म परमार्थतः सत्य है यह जगत केवल व्यावहारिक रूप में ही सत्य माना जाता है, इसके ग्रहण कराने वाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाण है। वेदान्त परिभाषा आदि ग्रन्थों में विशेष रूप से व्यावहारिक पदार्थ का ज्ञान कराने वाले प्रमाणों के प्रामाण्य पर विचार किया गया है। सामान्यतः वेदान्त का प्रामाण्यवाद सम्बन्धी सिद्धान्त भी पूर्वमीमांसा के समान ही है। यहाँ भी प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः माना गया है।

प्रामाण्य का स्वरूप- ज्ञान दो प्रकार का होता है (1) अनुभव और (2) स्मृति। दोनो प्रकार के ज्ञान से यदि प्रवृत्ति सफल हो जाती है तो उसे यर्थाथ ज्ञान कहा जा सकता ह। वेदान्त के अनुसार प्रामाण्य का स्वरूप है तद्वति तत्प्रकारक ज्ञानत्वं प्रामाण्यम्।[223] इसका अभिप्राय है किसी विशेषण से युक्त वस्तु में उस विशेषण (प्रकार) के रूप से ज्ञान होना यथार्थ ज्ञान कहलाता है जैसे 'यह घट है' जब घट में इस प्रकार का ज्ञान होता है तो वह यथार्थ ज्ञान कहलाता है। यहाँ घट में घटत्त्व प्रकार विशेषण है और घट (घटत्ववान्) विशेष्य है, उसमें 'यह घट है' इस प्रकार का घटत्वप्रकारक ज्ञान यर्थाथ है। यही प्रामाणिक ज्ञान

कहलाता है। ज्ञान का यह प्रामाण्य स्वतः ही होता है। इस कथन का अभिप्राय है कि यह प्रामाण्य ज्ञान की साधारण सामग्री से ही उत्पन्न हो जाता है जिस सामाग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी से ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है यही प्रामाण्य का उत्पत्ति में स्वतस्त्व कहलाता है। बौद्ध और नैयायिक गुण की अपेक्षा से प्रामाण्य की उत्पत्ति मानते है परन्तु वेदान्ती ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार ज्ञान की सामान्य सामग्री से ही प्रामाण्य की उत्पत्ति हो जाती है।

उत्पत्ति में स्वतस्त्वविषयक विरोधी युक्तियों का निराकरण

नैयायिक और बौद्ध यह कहते है कि ज्ञान की सामान्य सामग्री से ही प्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अपितु गुणों के द्वारा प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है; जैसे चक्षु के द्वारा जब श्वेत शंख का ज्ञान होता है तो यहाँ ज्ञान की सामान्य सामग्री है नेत्रेन्द्रिय का शंख के साथ सन्निकर्ष किन्तु केवल इसी सामग्री से शंख श्वेत है यह ज्ञान उत्पन्न नहीं हो जाता, अपितु नेत्र की निर्मलता भी अपेक्षित होती है। यदि ऐसा न होता तो कामता के रोगी को भी 'शंख श्वेत है' ऐसा ज्ञान हो जाया करता, न कि शंख के पीले होने का ज्ञान होता। अतः यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में गुणों को अवश्य कारण मानना चाहिए। इसके उत्तर में वेदान्ती का कथन है कि यदि गुण की अपेक्षा से प्रामाण्य की उत्पत्ति मानी जाये तो वह कोई ऐसा गुण दिखाई नहीं देता।

यहाँ नैयायिकों की शंका है कि यद्यपि सभी प्रमाणों से उत्पन्न होने वाले यथार्थ ज्ञान में व्यापक रूप से रहने वाला कोई एक गुण नहीं है तथापि भिन्न-भिन्न प्रमाणों से उत्पन्न होने वाले यथार्थ ज्ञानों में रहने वाला व्यापक धर्म 'गुण' के रूप में होता है, जैसे प्रत्यक्ष में इन्द्रिय का वस्तु के अधिकांश अवयवों से सन्निकर्ष होना ही गुण है। वेदान्त की ओर से इसका उत्तर यह

दिया गया है कि यह गुण भी सभी प्रत्यक्ष ज्ञानों में विद्यमान नहीं होता, क्योंकि रूप के या आत्मा के प्रत्यक्ष में यह गुण नहीं होगा। कारण यह है कि रूप या आत्मा में अवयव ही नहीं होते। फिर अधिकांश अवयवों के साथ सन्निकर्ष कैसे बन सकेगी। और इस गुण के न होने पर भी उनके प्रत्यक्ष का प्रामाण्य होता है। इस प्रकार नैयायिक के कथन में अव्याप्ति दोष है। इसी प्रकार उसमें अतिव्याप्ति दोष भी है क्योंकि पीलिया के रोगी को शंख में पीतिमा का ज्ञान होता है उसका यह ज्ञान प्रमाण नहीं, किन्तु वहाँ नैयायिक का माना हुआ प्रत्यक्ष प्रमा का गुण (इन्द्रियों का वस्तु के अधिकाँश अवयवों से सन्निकर्ष) विद्यमान ही है। अतः नैयायिक का कथन युक्तियुक्त नही है और वस्तु के अधिकांश अवयवों से इन्द्रिय के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण में गुण नहीं माना जा सकता।

नैयायिक ने अनुमिति में सद् हेतु के ज्ञान (सालिंग-परामर्श) को गुण माना है अर्थात् यदि सद् हेतु हो तो उसका पक्ष में परामर्श हो जाये तो उससे होने वाली अनुमिति यर्थाथ होगी। जैसे धूम की अग्नि के साथ व्याप्ति है। यहाँ धूम अग्नि का बोध कराने वाला, लिंग कहलाता है जब पर्वत आदि पक्ष में धूम का परामर्श (व्याप्ति-विशिष्ट ज्ञान) होता है तो इससे वहाँ अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है। यह अनुमिति यथार्थ होती है, क्योंकि यह सद्हेतु के द्वारा उत्पन्न होती है। नैयायिक के इस मन्तव्य का विरोध करते हुए वेदान्ती का कथन है कि कभी-कभी असद्हेतु के परामर्श से भी यथार्थ अनुमिति हो जाती है, जैसे यदि कोई व्यक्ति भ्रान्ति से भाप को धूम समझ लेता है और वहाँ अग्नि की उपलब्धि हो जाती है तो अनुमिति प्रामाणत्मकम ही होती है इस प्रकार अनुमिति के प्रामाण्य मे सद्हेतु के [illegible]मर्श को गुण नहीं माना जा सकता। इसीलिये

सद्हेतु युक्त परामर्श ज्ञान को भी अनुमिति आदि प्रमा में गुण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कहीं-कहीं असद्हेतु युक्त परामर्श के गुण नहीं माना जा सकता। इसीलिए सद्हेतु युक्त परामर्श ज्ञान को भी अनुमिति आदि प्रमा में गुण नहीं कहा जा सकता, इसलिये सद्हेतु युक्त परामर्श ज्ञान को भी अनुमिति आदि प्रमा में गुण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कहीं-कहीं असद्हेतु युक्त परामर्श आदि ज्ञान के स्थल में भी विषय का बोध नहीं होता और अनुमिति आदि प्रमा ही होती है।[224]

विरोधी (नैयायिक आदि) की दूसरी शंका यह है कि यदि जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है तो शंख पीला है, इस प्रकार का भ्रम भी प्रमा होगा, क्योंकि वेदान्ती के अनुसार ज्ञान की सामान्य सामग्री से ही प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है। यहाँ ज्ञान की सामान्य सामग्री है- नेत्र तथा शंख आदि। वह सामग्री 'शंख पीला है' इस ज्ञान की उत्पत्ति में भी विद्यमान है ही, अतः यह ज्ञान प्रमा होना चाहिये। इसके उत्तर में वेदान्ती का कथन है कि प्रामाण्य की उत्पत्ति में दोष के अभाव को भी कारण माना जाता है और दोष के अभाव को कारण मानने पर भी प्रामाण्य की उत्पत्ति परतः नहीं कही जा सकती, क्योंकि यदि यहाँ किसी भाव-पदार्थ और गुण आदि को प्रामाण्य की उत्पत्ति में सहायक माना जाता तभी परतस्त्व की शंका हो सकती थी। हमने तो दोष के अभाव को सहायक माना है, जो अभावरूप है। इसलिये ज्ञानों के प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः ही हो जाती है, यह मानना चाहिये।

'श्वेतः शंख' इस प्रामाणिक ज्ञान में ज्ञानजनक सामान्य सामग्री है इन्द्रिय और अर्थ का संयोग। पीलिया आदि दोषों का अभाव भी कारण है, किन्तु यह दोषों का अभाव ज्ञानजनक सामान्य सामग्री से बाहर है अतः आगन्तुक है यह श्वेतः शंख

की प्रामाणिकता में कारण तो है फिर भी इससे ज्ञान की उत्पत्ति में परतस्त्व नहीं आता, क्योंकि यह भावरूप नहीं है अभावरूप है। उत्पत्ति में स्वतस्त्व का तात्पर्य है कि दोष का अभाव होने पर ज्ञान की सामान्य सामग्री से ही प्रमाण-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

ज्ञप्ति में स्वतस्त्व- जिस प्रकार ज्ञान में प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः होती है उसी प्रकार ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। किन्तु यह तभी होता है जब दोष बाधक नहीं होते। वेदान्त के अनुसार घट आदि के आकार में परिणत हुई जो बुद्धिवृत्ति है वही ज्ञान है, उसका साक्षि-चैतन्य के द्वारा ग्रहण होता है उस ज्ञान के प्रामाण्य का भी निश्चय हो जाता है। इस प्रकार जिस साधन से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी से ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है अतः ज्ञान का प्रामाण्य स्वतोग्राह्य है।[225]

यहाँ पूर्वपक्षी की ओर से शंका हो सकती है कि वृत्ति-ज्ञान भ्रम के स्थल में भी होता है और उसका ग्राहक साक्षि-चैतन्य भी होता है फिर तो वहाँ भी प्रामाण्य का निश्चय हो जाना चाहिए और किसी भी ज्ञान में प्रामाण्य का संशय न होना चाहिए। उसका उत्तर देते हुए वेदान्ती कहते हैं कि स्वाश्रय-ग्राहक (अर्थात वृत्तिज्ञान के ग्राहक) साक्षि-चैतन्य में दोषाभाव विशेषण दिया गया है किन्तु जहाँ दोष होते है वहां वृत्तिज्ञान का ग्राहक जो साक्षि-चैतन्य है वह दोषाभाव से विशिष्ट नहीं होता, अतः वहाँ प्रामाण्य का ग्रहण ही नहीं होता। इसीलिए वहाँ संशय होना सम्भव है, क्योंकि संशय होने से यह विदित हो जाता है कि यहाँ दोष अवश्य होगा।

अथवा यह कहा जा सकता है कि वृत्तिज्ञान का ग्राहक जो साक्षी ज्ञान है यदि उससे प्रामाण्य का ग्रहण भी न हो तो भी ज्ञान में उसके द्वारा प्रामाण्य के ग्रहण की योग्यता होनी चाहिए,

यही स्वतोग्राहत्व है। संशय के स्थल में भी इस प्रकार की योग्यता रूप स्वतोग्राह्यता रहती ही है किन्तु दोषों के कारण प्रामाण्य का निश्चय नहीं होता और संशय हो जाता है।[226]

वेदान्त का परतः अप्रामाण्यवाद

वेदान्त परिभाषा में उत्पत्ति और ज्ञप्ति में प्रामाण्य की स्वतः सिद्धि करके अप्रामाण्य परतः होता है, इसका निरूपण किया गया है। ज्ञान का अप्रामाण्य ज्ञान की सामान्य सामग्री से उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि इस प्रकार प्रमा ज्ञान में भी अप्रामाण्य होने लगेगा, अतः वह (अप्रामाण्य), दोष से उत्पन्न होता है[227] ऐसा माना जाता है।

वेदान्ती का अभिप्राय यह है कि ज्ञान की सामान्य सामग्री से ही ज्ञान में स्थित अप्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं हुआ करती, अपितु दोषों के कारण अप्रामाण्य की उत्पत्ति हुआ करती है। उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पादक सामग्री जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष इत्यादि है केवल उन्हीं से भ्रान्ति नहीं उत्पन्न होती, अपितु प्रकाश की मन्दता या इन्द्रिय की अपटुता आदि दोष भी इसमें कारण हुआ करते है इसी प्रकार 'शंख पीला है' इस भ्रान्ति में केवल नेत्र और शंख का सन्निकर्ष ही कारण नहीं होता अपितु नेत्र का पीलिया आदि रोग (दोष भी कारण होता है इससे स्पष्ट है कि अप्रामाण्य की उत्पत्ति दोषों से होती है इसलिये अप्रामाण्य उत्पत्ति में परतः माना जाता है

यह अप्रामाण्य उत्पत्ति में ही परतः नहीं होता, अपितु ज्ञप्ति में भी परतः होता हो जिस साधन से ज्ञान का ग्रहण होता है, उससे उसके अप्रामाण्य का ग्रहण नहीं होता, प्रत्युत किसी अन्य साधन से उसका ग्रहण होता है। भाव यह है कि अप्रमा का लक्षण है 'तद्‌भाववति तत्प्रकारकं ज्ञानम्' अर्थात् जिसमें रजत्व धर्म नहीं है ऐसी शुक्ति में जो रजत्त्व प्रकारक ज्ञान होता है वह

अयथार्थ होता है। इस लक्षण में 'तद्भाववत्त्व' यह पद भी है, जिसका वृत्ति द्वारा बोध नहीं होता, क्योंकि भ्रम के स्थल में केवल रजताकार वृत्ति होती है, रजत्त्व के अभाव के आकार वाली नहीं। जब वृत्तिज्ञान में ही 'तद्भाववत्त्व' उपस्थित नहीं है तो साक्षी ज्ञान द्वारा उसका ग्रहण भी कैसे हो सकता है? अतः अप्रामाण्य का ज्ञान उसी सामग्री (साक्षी ज्ञान) से नहीं होता जिससे ज्ञान का ग्रहण होता है, और अप्रामाण स्वतोग्राह्य नहीं हो सकता अपितु परतो ग्राह्य है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि वेदान्त के अनुसार ज्ञान का अप्रामाण्य परतो ग्राह्य है तब किस साधन से उसका ग्रहण होता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि वह अनुमान आदि द्वारा गृहीत होता है।[228] संक्षेप में अनुमान का प्रकार यह है कि किसी को शुक्ति में रजतज्ञान होता है जब उसकी रजत को लेने के लिये प्रवृत्ति होती है तो रजत नहीं मिलती। इस प्रवृत्ति की असफलता या विसंवाद से यह अनुमान कर लिया जाता है कि उसका रजतज्ञान मिथ्या है।

वेदान्त के प्रामाण्यवाद का निष्कर्ष

संक्षेप में वेदान्त का मत यह है कि ज्ञानों का प्रामाण्य उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनो में स्वतः होता है उत्पत्ति में स्वतः होने का अभिप्राय है कि जिस सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति होती है उससे ही ज्ञान में स्थिति प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है। ज्ञप्ति में स्वतः होने का अभिप्राय है कि जिस साक्षि-चैतन्य के द्वारा ज्ञान का ग्रहण किया जाता है उसी के द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण कर लिया जाता किन्तु ज्ञानों का अप्रामाण्य उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति दोनो में परतः होता है। भाव यह है कि अयथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में ज्ञान की सामान्य सामग्री के अतिरिक्त दोष भी कारण होते है, यही अप्रामाण्य का उत्पत्ति में परतस्त्व है। इसी प्रकार

अप्रामाण्य का ग्रहण साक्षी ज्ञान से नहीं होता, अपितु अनुमिति आदि अन्य साधनों से हुआ करता है अतः यह परतो ग्राह्य है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूचिका

1 मीमांसा सूत्र-1.1.2

2 वहीं

3 श्लोकवार्त्तिक-1.1.2.47

4 तच्च ज्ञान सामान्य सामग्री प्रोज्यं न त्वधिकगुणमपेक्षते

-वेदान्त- परिभाषा पृ० 109

5 'तेन ज्ञान ग्राहकातिरिक्तान पेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य'

-तर्कभाषा पृ० 201

6 तुलना कीजिए डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री भारतीय दर्शन शास्त्र पृ० 172 और श्चेर वात्स्की, बुद्धिस्ट लांजिक, भाग-1 पृ० 46 ।

7 अनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथाहि-उभयमप्येतत् किंचित् स्वतः किंचित् परत इति।- (तत्त्वसंग्रहपञ्जिकाकारिका- 3122)

8 द्रष्टव्य तत्त्वसंग्रहकारिका 2956 तथा आगे।

9 तस्मात् प्रेक्षावतां युक्ता प्रमाणादेव निश्चितात।
सर्वप्रवृत्तिरन्येषां संशयादि रपि क्वचित्।।

- तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक तृतीय खण्ड पृ० 116

10 प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात् परतोऽन्यथा।

- प्रामाण परीक्षा पृ० 63

11 भारतीय दर्शन शास्त्र पृ० 172

12 सर्वदर्शनसंग्रह पृ० 279

13 Jacobi Journal of the American Oriental Society – Vol. 37 (1911)

14 औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्।

– मीमांसासूत्र 1.1.5

15 मी0 शाबरभाष्य, 1.1.2, पृ0 29–31

16 वही 1.1.5, पृ0 46

17 वही 1.1.5, पृ0 47–51

18 पार्थसारथि मिश्र ने शास्त्रदीपिका नामक एक स्वतन्त्र व्याख्या भी मीमांसा सूत्रों पर लिखी है जो मीमांसा के कुमारिल सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का स्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत करती है।

19 श्लोकवार्त्तिक 1.1.2.47 तथा अनुवाद भाग–2

20 वही

21 वही

22 तुलना कीजिये, पार्थसारथि मिश्र न्यायरत्नाकर श्लोकवार्त्तिक 1. 1.2.46 ।

23 तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणाता । श्लोकवार्त्तिक 1. 1.2.53

24 आत्मालाभे च भावानाम् कारणापेक्षता भवेत्
लब्धात्मानामं स्वकार्येषु प्रवृर्त्तिः स्वयमेवतु।।

–श्लोकवार्त्तिक 1.1.2.481

25 [illegible]लोकवार्त्तिक 1,1.2.52,53

26 श्लोकवार्त्तिक 1,1.2.65,66,67

27 तर्कभाषा पृ0 21

28 मीमांसा शाबर भाष्य, 1.1.5 पृ0 85

29 सत्यंपूर्व [illegible]द्धिरुत्पद्यते, न तु पूर्व ज्ञायते।

–शाबर भाष्य 1.1.5 पृ0 86

30 शाबरभाष्य 1.1.5 पृ0 87

31 एष चार्थस्यसंवित्तेः पश्चा[illegible]ावबोधनम्

–[illegible]लोकवार्त्तिक तात्पर्यटीका पृ0 296

32 [illegible]लोकवार्तिक 1.1.32

33 अर्थ ग्रहणं हि लिङ्‌गभूतमन्यथानुपपद्यमानं वा बुद्धेर्ग्राहकं प्रमाणमपजनयति ।– भट्टोम्बेक ता. टीका पृ0 294

34 न्यायरत्नाकरश्लोकवार्त्तिक शून्यवाद का. 67

35 शास्त्रदीपिका, पृ0 192

36 ॥स्त्रदीपिका, पृ0 294

37 तल्लक्षणं चेतरेषामुक्तदोषात् ज्ञानजन्यफलभागित्वमेवाश्रयितव्यम् ।– शास्त्रदीपिका–पृ0 201

38 शास्त्रदीपिका, पृ0 201–208

39 शास्त्रदीपिका, पृ0 202

40 तर्कभाषा पृ0 21

41 शास्त्रदीपिका पृ0 191, तर्कभाषा पृ0 21

42 प्रमाण बलादभ्युदगम्यते। –शास्त्रदीपिका पृ0 208

43 श्लोकवार्त्तिक – 1.1.2,282–84

44 श्लोकवार्त्तिक 1.1.2.85,86

45 श्लोकवार्त्तिक 1.1.2.85,86

46 श्लोकवार्त्तिक 1.1.2.54–55

47 श्लोकवार्त्तिक 1.1.2.46

48 लोकवार्त्तिक 1.1.2.87

49 लोकवार्त्तिक 1.1.2.56–58

50 सर्वविज्ञान विषयमिदं तावत् प्रतीक्ष्यताम।
प्रमाणत्वाऽप्रमाणत्वे स्वतः किं परतोऽथवा।।
– लोकवार्तिक 1.1.2.33

51 स्वतोऽसताम साध्यत्वात्के चिदाहुर्द्वयं स्वतः ।
लोकवार्तिक 1.1.2.34

52 न्यायकुमुदचन्द्र, र्वदर्शनसंग्रह।

53 अपरे कारणोत्पन्न गुणदोषाऽबधारणात।
लोकवार्तिक 1.1.2.34

54 स्वतस्तावद् द्वयं नास्ति विरोधात्।

श्लोकवार्त्तिक -1.1.2.35

55 कथं ह्यन्याऽनपेक्षस्य विपरीतात्मसंभवः

श्लोकवार्त्तिक 1.1.2.36

56 श्लोकवार्त्तिक 1.1.2.36, भट्टोम्बेक तात्पर्य टीका पृ0 44

57 निः स्वभावत्वमेवंहि ज्ञानरूपे प्रसज्यते।

किमात्मकं भवेत्तच्च स्वभावद्वयवर्जितम्।।

श्लोकवार्त्तिक 1.1.2.35,36

58 श्लोकवार्त्तिक 1.1.2,38,45

59 श्लोकवार्त्तिक 1.1.2.44

60 श्लोकवार्त्तिक 1.1.2,49-51

61 वही पृ0 73

62 वस्तुत्वात्तु गुणैस्तेषां प्रामाण्य मुपजयन्ते- 1.1.2.39

63 सङ्गत्या यदि चेष्येत पूर्व पूर्ण प्रमाणता,

प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किंनिबन्धनः।। 1.1.2.76

64 प्रमाणवार्त्तिक 1.3

65 तत्त्वसंग्रह के प्रामाण्यवाद से तुलना

66 सुशिक्षितास्त्वारक्षते......... ःामाण्यमनिवार्यम्

-न्यायमञ्जरी पृ0 161

67 श्लोकवार्त्तिक 1.1.2.85,86

68 अथवा अकृतशास्त्राः यह पाठ हो सकता है जिसका अर्थ होगा भली-भाँति शास्त्रों का अध्ययन न करने वाले ।

69 प्रकरणपञ्चिका पृ0 32, एवं 43

70 न्यायमञ्जरी भाग-1 पृ0 166

71 प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः, नार्थप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम्-न्यायभाष्य 1.1.1

72 सामर्थ्य पुनरस्याः फलोनाऽभिसम्बन्धः- न्यायभाष्य 1.1.1

73 सत्सदिति गृहयमाणं यथाभूतम् विपरीतं भवति। असच्चाऽसदिति गृह्यमाणं यथाभूतम विपरीतं तत्त्वं भवति।- न्यायभाष्य 1.1.1

74 न्यायवार्त्तिक, पृ0 8 (कलकत्ता संस्करण)

75 न्यायवार्त्तिक, पृ0 8 (कलकत्ता संस्करण)

76 न्यायवार्त्तिक, पृ0 8 (कलकत्ता संस्करण)

77 डा0 धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री–Critique of Indian Realism P.113

78 द्रष्टव्य आगे

79 डा0 धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री- Critique of Indian Realism P.85

80 ऊपर, परि0 1 अनु0 2

81 वैशेषिक, सूत्र 1.1.3

82 डा0 धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री Critique of Indian Realism P.103

83 बोडास, Historical Survey of Indian Logic P.40

84 फैडेगन Vaisesike System P. 605

85 रैण्डल Indian Logic in the Early Schools P.26

86 न्यायकन्दली पृ0 217-220

87 न्यायमञ्जरी भाग 1 पृ0 157, भाग 2,पृ0260,261

88 न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका पृ0 12

89 'अर्थक्रियाख्यफलज्ञानमेव प्रवृत्ति सामर्थ्यमिति निर्णीतम्'

90 न्यायमञ्जरी भाग-1 पृ0 159

91 न च फलज्ञानं केचित्........। न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका पृ0 12

92 न्यायमञ्जरी भाग–1 पृ0 159

93 न्यायमञ्जरी भाग–1 पृ0 159

94 वयं तु.......... निवेशनीयमित्यर्थः,–न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका पृ012

95 न्यायमञ्जरी भाग–1 पृ0 160

96 न्यायमञ्जरी भाग–1 पृ0 149

97 न्यायमञ्जरी भाग–1 पृ0 150

98 न्यायमञ्जरी भाग–1 पृ0 151 तथा अनुवाद भाग–2

99 न्यायमञ्जरी भाग–1 पृ0 154 तथा अनुवाद भाग–2

100 न्यायमञ्जरी भाग–1 पृ0 151 तथा अनुवाद भाग–2

101 'यत्तु कश्चित्प्राज्ञमानी......... चेतयते'

102 – न्यय मञ्जरी भाग–1 पृ0 160

103 डा0 धर्मेन्द्र शास्त्री भारतीय दर्शन शास्त्र पृ0 40

104 प्रमाणवार्त्तिक परि0 1.3

105 प्रमाणवार्त्तिक परि0 1.6-7

106 तत्त्वसंग्रहकारिका 2810

107 श्त्मेकवार्त्तिक 1.1.2.47

108 तत्त्वसंग्रहकारिका 2812

109 तत्त्वसंग्रहकारिका 2832

110 तत्त्वसंग्रहकारिका 2834

111 तत्त्वसंग्रहकारिका 2835

112 तत्त्वसंग्रहपञ्जिकाकारिका 2835

113 श्लोकवार्त्तिक 1.1.2.44

114 प्रमाणवार्त्तिक वृत्ति परि0 1.7

115 शास्त्रदीपिका पृ0 77

116 न्यायमञ्जरी भाग-1 पृ0 149

117 न्यायावतारसूत्रवार्त्तिक वृत्ति पृ0 149

118 तत्त्वसंग्रहकारिका 2853

119 तत्त्वसंग्रहकारिका 2958

120 तत्त्वसंग्रहकारिका 2958

121 तत्त्वसंग्रहकारिका 2958,59,60,61

122 तत्त्वसंग्रहकारिका 2962,63,64,65,

123 तत्त्वसंग्रहकारिका 2966

124 दृष्टव्य पृ0 ऊपर पृ.....

125 तत्त्वसंग्रहकारिका 2970,71,72,

126 तत्त्वसंग्रहपञ्जिकाकारिका 2974

127 तत्त्वसंग्रहकारिका 2975

128 तत्त्वसंग्रहकारिका 2976,2978,

129 तत्त्वसंग्रहकारिका 2980

130 तत्त्वसंग्रहकारिका 2981

131 तत्त्वसंग्रहपञ्जिकाकारिका 2981

132 तत्त्वसंग्रहकारिका 2984

133 तत्त्वसंग्रहकारिका 2985

134 तत्त्वसंग्रहकारिका 2986

135 तत्त्वसंग्रहकारिका 2987

136 तत्त्वसंग्रहकारिका 2986,87,88,89,

137 तत्त्वसंग्रहकारिका 2990,91,92,

138 तत्त्वसंग्रहपञ्जिकाकारिका 2993

139 मीमांसाशाबरभाष्य 1.1.5

140 तत्त्वसंग्रहपञ्जिकाकारिका 2993

141 तत्त्वसंग्रहकारिका 2994,95

142 तत्त्वसंग्रहकारिका 2821

143 तत्त्वसंग्रहकारिका 2818–2823

144 यह बौद्ध की युक्ति असंगत है क्योंकि मीमांसक ज्ञान में प्रामाण्य शक्ति का कभी होना और कभी न होना नहीं मानता

145 तत्त्वसंग्रहकारिका 2826 तथा अनुवाद भाग–2

146 तत्त्वसंग्रहकारिका 2827 तथा अनुवाद भाग–2

147 तत्त्वसंग्रहकारिका 2830,31, तथा अनुवाद भाग–2

148 तत्त्वसंग्रहकारिका 2838,39

149 तत्त्वसंग्रहकारिका 2841

150 तत्त्वसंग्रहकारिका 2920,2921

151 तत्त्वसंग्रहकारिका 2924

152 तत्त्वसंग्रहकारिका 2842–2845

153 तत्त्वसंग्रहकारिका 2844,45

154 तत्त्वसंग्रहकारिका 2927

155 तत्त्वसंग्रहकारिका 2928

156 तत्त्वसंग्रहपञ्जिकाकारिका 2929

157 तत्त्वसंग्रहपञ्जिका का0 2945

158 तत्त्वसंग्रह का0 2946,2947

159 तत्त्वसंग्रह का0 2948

160 तत्त्वसंग्रह का0 2950–53

161 तत्त्वसंग्रह का0 2885,86,87

162 तत्त्वसंग्रह का0 3103,4,5,6

163 तत्त्वसंग्रह का0 3107–12

164 तत्त्वसंग्रह का0 3113

165 तत्त्वसंग्रह तथा अनुवाद भाग–2, का 3114,3121

166 तत्त्वसंग्रह का0 2944

167 तत्त्वसंग्रहपञ्जिका का0 3122

168 तत्त्वसंग्रहपञ्जिका का0 2944

169 न्यायकुमुदचन्द्र, प्रस्तावना पृ0 61

170 न्यायावतार (सिद्धसेन दिवाकर) प्रस्तावना पृ0 23

171 प्रमाणं स्वयराभासि ज्ञानं बाध विवर्जितम्।

172 प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्वेधा मेयाविनिश्चयात्।।

173 –न्यायावतार सूत्र का0–1

174 प्रमाणपरीक्षा पृ0 23

175 परीक्षागुण, 1.13

176 न्यायकुमुदचन्द्र, प्रस्तावना पृ0 117-120

177 न्यायकुमुदचन्द्र, प्रस्तावना पृ0 119-120

178 प्रमाणमीमांसावृत्ति, अ0 1 आ0 1 सूत्र 8

179 प्रमाणमीमांसावृत्ति अ0 1 आ0 1 सूत्र 8

180 प्रमाणमीमांसावृत्ति अ0 1, आ0 1 सूत्र 8

181 वही

182 तत्त्वसंग्रह का0 2979

183 न्यायकुमुदचन्द्र पृ0 202

184 न्यायकुमुदचन्द्र पृ0 202

185 प्रभामीमांसा वृत्ति 1.1.8

186 मन्त्रायुर्वेद प्रमाण्यवच्च तत्प्रामाण्यं आप्तप्रामाण्यात्- न्याय सूत्र 21.69

187 न्याय बिन्दु पृ0 98 पं0 11

188 न्यायावतारसूत्र प्रस्तावना पृ0 23

189 न्यायावतारसूत्र का0 1

190 न्यायावतारसूत्रवार्तिक वृत्ति पृ0 27

191 वही पृ0 27

192 बाधनात संशयाद्यासे सूक्तं सामान्य लक्षणं -

193 -न्यायावतारसूत्रवार्त्तिक का0-5 पृ0 23

194 'तस्मात् स्थितं अबाधितं प्रमाणम् इति

195 -न्यायावतारसूत्रवार्तिकवृत्ति पृ0 28 प 16

196 न्यायावतारसूत्रवार्त्तिक का0 6 पृ0 28

197 व्चसोऽपौरूषयत्वं नाऽविशेषात् पटादिवत्

198 *न्याय0 सू0 वा0 का0 77 पृ0 29*

199 प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार (देवसूरि) 1.21

200 'तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपिप्रायशः संकीण प्रामाण्येतर स्थिति सन्नतव्याः

201 न्यायावतारवार्त्तिकवृत्ति, टिप्पणी0 पृ0 172

202 अष्टशती, का0 1011 उद्घृत न्यायावतार सूत्र वार्त्तिक वृत्ति टिप्पणी, पृ0 172

203 प्रमाणवार्त्तिक अ0 मु0,पृ0 41/आप्तमीमांसा, का0 83

204 सांख्यकारिका 4

205 सांख्यतत्त्वकौमुदी का.4

206 सांख्यतत्त्वकौमुदी का.5

207 दृष्टव्य आगे पृ0 97

208 धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री Critique of Indian Realism P.75 तथा भारतीय दर्शनशास्त्र पृ0 87

209 सांख्यदर्शन अ. 1 सूत्र 87

210 सांख्यदर्शन अ. 1 सूत्र 87

211 सांख्यदर्शन अ. 1 सूत्र 102

212 योगसूत्र 1.7

213 योगसूत्र 1.8

214 योगसूत्रव्यासभाष्य 1.24

215 श्लोकवार्त्तिक 1.1.2.34

216 तत्वसंग्रहपञ्जिका, का. 2811

217 न्यायमञ्जरी भाग- 1 पृ0 146

218 सर्वदर्शनसंग्रह पृ0 279

219 योगसूत्रव्यासभाष्य 1.1.24

220 योगसूत्रव्यासभाष्य, तत्त्वैशारदी 1.1.24

221 शास्त्रयोनित्वात् ब्रह्मसूत्र 1.1.3

222 न्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका पृ0 4,5,11,14

223 न्यायकणिका, पृ0 162–168

224 शास्त्रोयोनित्वात् सूत्र के दो अर्थ हैं– ऋगवेदादि शास्त्र का कारण ब्रह्म है, दूसरा ऋगवेद आदि शास्त्र ही ब्रह्म में प्रमाण हैं

225 त[illegible]रेतराध्यासंपुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणंप्रमेय व्यवहाराः लौकिकाः प्रवृत्ताः– ब्रह्मसूत्र शा. भा. पृ020

226 वही, 1.1.2. पृ0 55

227 वही 1.1.3 पृ0 58

228 भामती, ब्रह्मसूत्र– 1.1.3

229 वेदान्तपरिभाषा पृ0 109

230 वेदान्तपरिभाषा, पृ0 110

231 ज्ञायते च प्रामण्यं स्वतः। स्वतो ग्राह्यत्वं च दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम्।

232 – वेदान्तपरिभाषा पृ0 111

233 वही पृ0 111

234 अप्रामाण्यन्तु न ज्ञानसामन्य सामग्री प्रयोज्यम् प्रमायामपि अ[illegible]माण्यापत्तेः किन्तु दोष प्रयोज्यम।–

235 – वेदान्तपरिभाषा पृ0 112

236 वेदान्तपरिभाषा पृ0– 112

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

सप्तम अध्याय

समालोचनात्मक निष्कर्ष

सप्तम अध्याय

समालोचनात्मक निष्कर्ष

इस शोध-प्रबन्ध का प्रतिपाद्य विषय 'भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद का समीक्षात्मक विवरण' है, जो सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय 'प्रस्तावना' के अन्तर्गत भारतीय प्रमाणमीमांसा का संक्षिप्त परिचय दिया गया है और इसमें भारतीय न्याय के विकास में आचार्यों के योगदान को बताया गया है। द्वितीय अध्याय 'ज्ञान का स्वरूप' में ज्ञान की व्याख्या की गयी है, चूँकि प्रामाण्यवाद ज्ञानमीमांसा का वह अंग है जिसमें ज्ञान की यथार्थता का विवेचन किया जाता है, इसलिए ज्ञान के स्वरूप का विश्लेषण तथा ज्ञान के भेद से शोध-प्रबन्ध के प्रतिपाद्य विषय को समझना आसान हो जाता है। तृतीय अध्याय 'प्रमा का स्वरूप' में प्रमा के लक्षण से यह स्पष्ट है कि प्रमा यथार्थ ज्ञान है और प्रमा में रहने वाला धर्म प्रामाण्य है तथा प्रामाण्य का निर्धारण प्रामाण्यवाद में होता है। चतुर्थ अध्याय 'प्रमाण का स्वरूप' है। यद्यपि प्रमाणों के स्वरूप और प्रमाणों का निरूपण करना इस शोध- प्रबन्ध का उद्देश्य नहीं है, तथापि शोध-प्रबन्ध के प्रतिपाद्य विषय प्रामाण्यवाद के निरूपण के लिए प्रमाणों के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक हो जाता है। पंचम अध्याय 'ख्यातिवाद' है। ख्यातिवाद का प्रामाण्यवाद से गहरा सम्बन्ध है, क्योंकि भ्रान्ति होने पर प्रामाण्य का अभाव होता है। इसलिए प्रामाण्यवाद के निरूपण में भ्रान्ति-सिद्धान्त का विवेचन आवश्यक हो जाता है। षष्टम अध्याय 'प्रामाण्यवाद' ही शोध प्रबन्ध का मूल विषय है, अन्य अध्याय किसी न किसी रूप में प्रामाण्यवाद की व्याख्या करने में सहायक हैं।

'समालोचनात्मक निष्कर्ष' में शोध-प्रबन्ध के अनुशीलन की उपलब्धियों तथा मान्यताओं को स्पष्ट किया गया है। उपर्युक्त विवेचन

के आधार पर यह स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद का अत्यन्त विस्तार से विवेचन किया गया है। इस विवेचन के विविध ऐतिहासिक तथा दार्शनिक तथ्यों का प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में नवीन ढंग से निरूपण करने का प्रयास किया गया है तथा युक्ति और प्रमाणों के आधार पर किसी निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न किया गया है। संक्षेप में इस शोध-प्रबन्ध के अनुशीलन की उपलब्धियाँ अधोलिखित हैं-

प्रामाण्यवाद का उद्भव

भारतीय दर्शन में वेद के प्रामाण्य का विवेचन करने के साथ-साथ ही इस विचार की उद्भावना की गई है कि कौन ज्ञान यथार्थ हो सकता है और कौन नहीं। प्रथमतः शब्द के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य पर ही विचार किया जाता रहा, किन्तु आगे चल कर सामान्यतः सभी ज्ञानों के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का विचार किया जाने लगा। यद्यपि यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि किस आचार्य ने प्रथमतः प्रामाण्यवाद का व्यवस्थित विवेचन किया। सम्भवतः कुमारिल भट्ट(7 वीं, 8 वीं शती) ने सर्वप्रथम प्रामाण्यवाद का व्यवस्थित विवेचन किया था। कुमारिल से पूर्व वात्स्यायनभाष्य, शाबरभाष्य तथा धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्त्तिक' में प्रामाण्यवाद के संकेत अवश्य मिलते हैं, फिर भी विविध मतों को प्रदर्शित करते हुए प्रामाण्यवाद का जो व्यवस्थित विवेचन किया गया है वह सर्वप्रथम कुमारिल के 'श्लोकवार्त्तिक' में ही उपलब्ध होता है।

प्रामाण्यवाद का स्वरूप

प्रामाण्यवाद का तात्पर्य है ज्ञान की यथार्थता तथा अयथार्थता का विचार, इसलिए ज्ञान विवेचन का वह भाग जिसमें ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय किया जाता है प्रामाण्यवाद कहलाता है। प्रारम्भ में प्रामाण्यवाद के स्वरूप पर जो अस्पष्ट सा विचार किया

गया था, कालान्तर में ही वह स्पष्ट हो सका, उदाहरणार्थ श्लोकवार्त्तिक में प्रामाण्यवाद के स्वरूप के विषय में स्पष्ट विचार नहीं उपलब्ध होते। केवल इतना ही विदित होता है कि ज्ञानों की यथार्थता तथा अयथार्थता का विचार ही प्रामाण्यवाद है, किन्तु आगे चलकर यह स्पष्ट हुआ कि प्रामाण्यवाद के अन्तर्गत विस्तार से यह विचार किया जाता है कि ज्ञानों का प्रामाण्य उत्पत्ति में, ज्ञप्ति में तथा स्वकार्य में स्वतस्त्व होता है अथवा परतस्त्व। इस प्रकार प्रामाण्यवाद के तीन अंश हो सकते है- 1. उत्पत्ति में स्वतस्त्व 2 ज्ञप्ति में स्वतस्त्व 3 कार्य में स्वतस्त्व।

संक्षेप में उत्पत्ति में स्वतस्त्व का अर्थ यह है कि ज्ञान को उत्पन्न करने वाली जो सामान्य सामग्री है, उससे ज्ञान का प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है, उसके लिए किसी अतिरिक्त सामग्री की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञप्ति में स्वतस्त्व का तात्पर्य यह है कि जिस साधन के द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है उसी साधन के द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। कार्य में स्वतस्त्व का अभिप्राय यह है कि प्रामाण्य का कार्य अपने अर्थ का बोध कराना और इस कार्य में वह किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता। यद्यपि श्लोकवार्त्तिक में प्रामाण्यवाद के स्वरूप विषयक उपर्युक्त तथ्य स्पष्टतः भासित नहीं होते, तथापि इनका बीज अवश्य उपलब्ध होता है। बाद के दार्शनिक विवेचनों में इसका स्वरूप भली-भाँति निखर गया है।

भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में इस प्रामाण्यवाद के विषय में जो मतभेद है उनका विस्तार से शोध प्रबन्ध में विवेचन किया जा चुका है। संक्षेप में प्रामाण्य विषयक मतों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है-

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः होते है।

प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः होता है।

अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः होता है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः होता है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों कहीं स्वतः होते है और कहीं परतः।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः

भारतीय दर्शन के कतिपय ग्रन्थों में इसे सांख्य का मत बतलाया गया है, किन्तु इस विषय में सांख्य के प्रामाणिक ग्रन्थों से कुछ विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। इसका तात्पर्य यही कहा जा सकता है कि सांख्य सत्कार्यवादी है। अतः उसके सिद्धान्त के अनुसार यदि प्रमाणों में प्रामाण्यशक्ति स्वतः नहीं होगी, तो किसी अन्य साधन से उत्पन्न नहीं की जा सकती। इस प्रकार ज्ञानों में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो स्वतः होने चाहिए, किन्तु इस आधार पर प्रामाण्य और अप्रामाण्य का उत्पत्ति में स्वतस्त्व ही सिद्ध हो सकता है, ज्ञप्ति और कार्य में नहीं। फिर सांख्य के अनुसार प्रामाण्य सर्वांश (उत्पत्ति, ज्ञप्ति और कार्य) में ही स्वतः होता है, यह बात कहाँ से आ गई? इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता।

प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः

यह मत पूर्वमीमांसा का है। वेदान्त सम्प्रदाय भी इसी मत को स्वीकार करता है। कुमारिल भट्ट के अनुसार ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः होता है और अप्रामाण्य परतः। यह स्पष्ट है कि यह मन्तव्य विकसित होकर इस रूप में आ गया कि प्रामाण्य उत्पत्ति, ज्ञप्ति और कार्य में स्वतः होता है। यह कहा जा सकता है कि मीमांसक कुमारिल भट्ट के अनुसार ज्ञान अर्थ का बोधक होने के कारण ही प्रमाण होता है, किन्तु यदि बाधक ज्ञान और कारण दोष–ज्ञान से किसी ज्ञान की प्रामाणिकता का बोध हो जाता है, तो वह अप्रामाण्य मान लिया जाता

है। प्रत्येक प्रमाण में स्वतः ही प्रामाण्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है, यही उसका उत्पत्ति में स्वतस्त्व है, जिसका अर्थ है कि जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी से प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है, प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए गुण आदि की अपेक्षा नहीं होती। प्रत्येक प्रमाण के अर्थ का निश्चय कराने में जो कि उसका अपना कार्य है स्वयं ही समर्थ है, यही प्रामाण्य का कार्य मे स्वतस्त्व है। जब ज्ञातता के द्वारा अनुमान या अर्थापत्ति से ज्ञान का ग्रहण होता है, तभी उसके प्रामाण्य का भी निश्चय कर लिया जाता है, यही कुमारिल सम्प्रदाय के अनुसार प्रामाण्य का ज्ञप्ति में स्वतस्त्व है, अर्थात् 'ज्ञातता' द्वारा अनुमान से ज्ञान का ग्रहण होता है और उसी से ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है ज्ञानों का अप्रामाण्य दोषों के कारण उत्पन्न हुआ करता है और बाधक ज्ञान तथा कारण दोष ज्ञान से अप्रामाण्य का निश्चय होता है, इसलिये अप्रामाण्य परतः ही होता है स्वतः नहीं।

प्रभाकर के प्रामाण्यवाद के मन्तव्य में कुमारिल से कुछ अन्तर है। उसके अनुसार सभी अनुभव ज्ञान यथार्थ है। लोक में जिसे भ्रान्ति कहा जाता है, जैसे शुक्ति में यह रजत है (इदम् रजतम्) इस प्रकार का अनुभव, उसे प्रभाकर के मतानुसार एक ज्ञान ही नहीं माना जाता, अपितु यहाँ अनुभव और स्मृति दो ज्ञानों का विवेकाग्रह माना जाता है। यह कहा जा सकता है कि किसी अनुभव में भ्रान्ति की आशंका ही नहीं हो सकती, अतः प्रभाकर के मतानुसार सभी अनुभव यथार्थ रूप में ही उत्पन्न होते है और अपना अर्थबोध रूप कार्य करने में समर्थ होते हैं। साथ ही प्रभाकर के अनुसार अनुभव स्वयं प्रकाश होता है इसलिये वह अपने प्रामाण्य का ग्रहण भी स्वतः ही कर लेता

है तथा यहाँ कुमारिल के मत के समान 'ज्ञातता' आदि की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनका न्याय-वैशेषिक तथा बौद्धदर्शन के ग्रन्थों में विस्तार से निरूपण किया गया है। उनमें अधिकांश युक्तियाँ केवल वादी के मत का खण्डन करने के लिये प्रस्तुत की गई प्रतीत होती हैं जैसा कि मध्यकालीन दार्शनिक टीकाकारों की पद्धति रही है कि वे दार्शनिक सिद्धान्तों को अनेक विकल्प जालों में उलझा देते हैं और मनमानी युक्तियों का प्रयोग किया करते हैं फिर भी उन युक्तियों का प्रयोग किया करते हैं, फिर भी उन युक्तियों में कुछ अवश्य ही बुद्धिग्राह्य प्रतीत होती हैं। संक्षेप में उनका सार यह है कि यदि प्रमाणों का स्वतः प्रामाण्य माना जाये तो किसी ज्ञान में भी संशय अथवा भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। वस्तुतः यह एक व्यावहारिक कठिनाई है। इसके अतिरिक्त जो आपत्तियाँ स्वतः प्रामाण्यवाद में की गई है, वे शास्त्रीय या वाद-सम्बन्धी ही कही जा सकती है।

अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः

यह मत सामान्यतः बौद्ध का माना जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक ज्ञान स्वभावतः अप्रामाण्य हुआ करता है, किन्तु बाद में अर्थक्रिया ज्ञान या कारण गुण ज्ञान से उसके प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। जैसाकि शान्तरक्षित तथा कमलशील ने स्वीकार किया है। बोद्धों के अनुसार भी प्रमाण की उत्पत्ति के साथ ही उसमें प्रामाण्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है। किन्तु केवल ज्ञान की उत्पादक सामग्री से ही प्रामाण्य शक्ति उत्पन्न नहीं होती, अपितु उसकी उत्पत्ति के लिये गुणों की अपेक्षा होती है, अर्थात् शुद्ध कारणों से प्रामाणिक ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। इस प्रकार प्रामाण्य उत्पत्ति में परतः होता

है। कमलशील ने कार्य में स्वतस्त्व का विरोध तो अवश्य किया है, किन्तु कार्य में भी प्रामाण्य परतः है, इसको स्पष्ट नहीं किया। हाँ, उस प्रामाण्य का निश्चय परतः ही हुआ करता है, इसका विवरण शोध प्रबन्ध विस्तार से किया गया है। बौद्ध के अनुसार प्रामाण्य का निश्चय संवाद तथा कारण शुद्धि-ज्ञान से हुआ करता हैं यही प्रामाण्य का ज्ञप्ति में परस्त्व कहा जा सकता है। किन्तु बौद्ध के मत में सभी ज्ञानों का प्रामाण्य परतः नहीं होता बौद्धों को अनियम पक्ष ही मान्य है। कमलशील ने बौद्ध दर्शन के प्रामाण्यवाद-विषयक मत का स्पष्टतः विवेचन किया है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः

यह मत न्याय-वैशेषिक का है। जिसका सार यह है कि ज्ञान के पश्चात् मनुष्य की प्रवृत्ति हो जाती है और प्रवृत्ति की सफलता या असफलता से ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता का निश्चय कर लिया जाता है। प्रवृत्ति से पूर्व ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय अपेक्षित नहीं होता। प्रामाण्य का निश्चय तो बाद में सफल प्रवृत्ति के द्वारा अनुमान से किया जाता है। इस मत के अनुसार ज्ञान में कारण गुणों के द्वारा प्रामाण्य की उत्पत्ति हुआ करती है, इसीलिये प्रामाण्य का उत्पत्ति में परतस्त्व हैं और, प्रवृत्ति-सामर्थ्य (प्रवृत्ति की सफलता या अर्थक्रिया प्राप्ति) द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हुआ करता है।

ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय परतः मानने में मीमांसक की सबसे बड़ी आपत्ति यह रही है कि इस प्रकार अनवस्था, चक्रक, इतरेतराश्रय आदि दोष हो जाऐगें। न्याय की ओर से अनवस्था दोष का निराकरण इसी रूप में हो जाता है, कि अनुमान को तो न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय ने भी स्वतः प्रमाण माना ही है। अतः उसके द्वारा अन्य ज्ञानों की प्रामाणिकता का निश्चय मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी। वाचस्पति

मिश्र के अनुसार अर्थक्रिया–ज्ञान और अभ्यासदशापन्न ज्ञान का प्रामाण्य भी अनुमान द्वारा सिद्ध होता है, साथ ही वेदों का प्रामाण्य भी आप्तकृत होने के कारण अनुमान से ही निश्चित होता है। अतः केवल अनुमान के आधार पर ही अनवस्था आदि दोषों का निराकरण किया जा सकता है। किन्तु बौद्ध न्याय के अन्तिम काल में तथा जैनदर्शन में इन अनवस्था आदि दोषों का परिहार करने के लिए कुछ नवीन उद्‌भावनाएँ की गयी हैं, जिनके आधार पर प्रामाण्यवाद सम्बन्धी एक नवीन मत का उदय भारतीय दर्शन में हुआ है जो निम्नलिखित है:–

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो कहीं स्वतः होते है और कहीं परतः

कमलशील के अनुसार बौद्ध दर्शन का प्रामाण्य विषयक मत यही है। इस मत को कमलशील के शब्दों में अनियम–पक्ष कहा जा सकता है इसके अनुसार सामान्यतः ज्ञानो का प्रामाण्य परतः ही होता है किन्तु कुछ ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः भी होता है, जैसे स्वसंवेदन–प्रत्यक्ष, योगि–ज्ञान, अर्थक्रिया–ज्ञान और अभ्यासदशापन्न ज्ञान। इन ज्ञानों के प्रामाण्य का स्वतः ही निश्चय हो जाता है। इस प्रकार प्रामाण्य को परतः मानने पर भी अनवस्था आदि दोषों की शंका नहीं की जा सकती। कमलशील के इस विवेचन से यह भी विदित होता है कि कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्त्तिक के आधार पर टीकाकारों की यह कल्पना भी निःस्सार है कि बौद्ध दर्शन के अनुसार ज्ञानों का अप्रामाण्य स्वतः ही हुआ करता है। कमलशील ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है 'उभयमप्येतत् किञ्चित्स्वतः किञ्चित परतः इति' अर्थात प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो ही किन्ही स्थलों पर स्वतः निश्चित कर लिये जाते हैं और किन्हीं स्थलों पर अन्य प्रमाण से (परतः) ही निश्चित किये जाते है।

जैन दर्शन के अनुसार भी प्रायः यही मत स्वीकार किया गया है कि प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही कहीं स्वतः और कहीं परतः होते है। 'प्रामाण्यवाद' के अध्याय में बताया गया है कि आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार अर्थक्रिया ज्ञान, अभ्यासदशापन्न ज्ञान तथा अनुमान के प्रामाण्य का निश्चय स्वतः ही होता है, किन्तु अनभ्यासदशापन्न ज्ञान और शब्द से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय परतः ही हुआ करता है।

वस्तुतः प्रामाण्य के विषय में यही मत अधिक व्यावहारिक प्रतीत होता है, क्योंकि लोगों की किसी वस्तु को ग्रहण करने या त्यागने के लिये ही प्रवृत्ति देखी जाती है और वह प्रवृत्ति ज्ञान से ही होती है। जब किसी वस्तु का ज्ञान हो जाता है, तो व्यक्ति उस वस्तु की सम्भावना मात्र से ही उसमें प्रवृत्त हो जाता है, उस समय वह उस ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का विचार ही नहीं करता। फिर यदि उसकी प्रवृत्ति ज्ञान से ही होती है। जब किसी वस्तु का ज्ञान हो जाता है तो व्यक्ति उस वस्तु की सम्भावना मात्र से ही उसमें प्रवृत्ति हो जाता है, उस समय वह उस ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का विचार ही नहीं करता। फिर यदि उसकी प्रवृत्ति सफल होती है तो ज्ञान प्रामाण्य का निश्चय कर लिया जाता है। ऐसी दशा में ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय परतः ही हुआ करता है। जब अर्थक्रिया की उपलब्धि होती है या प्रतिदिन की अभ्यस्त किसी वस्तु का बोध होता है, तब तो उसी समय ज्ञान की प्रामाणिकता भी निश्चित हो जाती है। उसी प्रामाणिकता के लिए अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती। अतः स्पष्ट है कि ज्ञानों के प्रामाण्य का निश्चय कहीं स्वतः होता है और कहीं परतः भी। मीमांसक ने जो स्वतः प्रामाण्य का ही आग्रह किया है, सम्भवतः वह वेदों की प्रामाणिकता को अक्षुण्य रखने के

लिए ही एक अनूठा प्रयास है। इसी प्रकार नैयायिक जो कहता है कि केवल अनुमान का ही प्रामाण्य स्वतः निश्चित किया जाता है अन्य प्रमाणों का नहीं, यह भी कुछ आग्रह सा ही प्रतीत होता है। यह अनुभव के अनुकूल नहीं जँचता, जैसा कि जयन्त भट्ट ने भी स्वीकार किया है--

'फलज्ञाने तु सिद्धप्रयोजनत्वात् प्रामाण्यपरीक्षापेक्षैव नास्तीति'

अर्थात अर्थक्रिया ज्ञान के प्रामाण्य की परीक्षा नहीं करनी होती, क्योंकि उस समय मनुष्य का प्रयोजन सिद्ध हो चुका होता है, जब अर्थक्रिया ज्ञान के प्रामाण्य की परीक्षा नहीं करनी होती तो उसका प्रामाण्य अनुमान से निश्चित किया जाता है, यह कहना कैसे युक्ति संगत हो सकता है, जैसाकि वाचस्पति मिश्र ने उलेख किया है। इसी प्रकार नैयायिकों ने यह माना है कि अभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय अनुमान द्वारा ही किया जाता है, यह भी अनुभव के विपरीत प्रतीत होता है, इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से तो यही मानना उचित है कि ज्ञानों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो ही कहीं स्वतः होते है और कहीं परतः भी।

दर्शनशास्त्र में व्यावहारिक दृष्टिकोण के साथ-साथ पारमार्थिक दृष्टि से भी विचार किया जाता है। सम्भवतः पारमार्थिक दृष्टि से विचार करते हुए ही भारतीय दर्शन के कुछ मनीषी शून्यवाद, अनिर्वचनीयवाद और अनेकान्तवाद जैसे विचारों पर पहुँच सके थे। प्रामाण्यवाद पर यद्यपि सभी दार्शनिकों ने पारमार्थिक दृष्टि से विवेचन नहीं किया है, तथापि जैन दर्शन के कुछ विचारकों ने इस दृष्टि से भी विचार किया हैं जिसका वर्णन शोध-प्रबन्ध में किया जा चुका है।

अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक ज्ञान प्रमाण तथा अप्रमाण दोनों हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मन्तव्य

पारमार्थिक दृष्टि से विचार करने पर ही अधिक संगत हो सकता है। यद्यपि विद्यानन्द आदि आचार्यो ने इसे व्यावहारिक दृष्टि से भी सम्पुष्टि करने का प्रयास किया है।

भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद का विवेचन ज्ञान सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण अंग है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत वेद के प्रामाण्य विषयक विविध मतों का विवेचन किया गया है जो भारतीय धर्म और दर्शन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व रखता है। साथ ही प्रत्येक दर्शन के प्रामाण्यवाद– सम्बन्धी मन्तव्य का उसके मौलिक सिद्धान्तों से गहन सम्बन्ध है। अतः आशा की जाती है इस विवेचन से भारतीय दर्शन के पहलू पर नवीन प्रकाश पड़ सकेगा।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

परिशिष्ट

सहायक-ग्रन्थ-सूचिका

अकलङ्कदेव	:	अष्टशती, निर्णयसागर, बम्बई 1915
अकलङ्कदेव	:	तत्त्वार्थवार्त्तिक, भारतीयज्ञानपीठ, काशी- 1952
नरेन्द्र सेन	:	प्रमाण-प्रमेय-कलिका, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री	:	भारतीयदर्शनशास्त्र, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1953
नागार्जुन	:	विग्रहव्यावर्तनी, जर्नन ऑफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, पटना
शन्तिरक्षित	:	तत्त्वसंग्रह, बौद्धभारती, वाराणसी 1968
कमलशील	:	तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, बौद्ध भारती, वाराणसी 1968
पतञ्जलि	:	योगसूत्र सिद्धेश्वर यन्त्र, कलकत्ता 1895
भट्टोम्बेक	:	तात्पर्यटीका (श्लोकवार्त्तिक-टीका) मद्रास यूनिवर्सिटी 1940
भासर्वज्ञ	:	न्यायसार, पूना 1922
लौगाक्षिभास्कर	:	तर्ककौमुदी, निर्णसागर, बम्बई 1928
विद्यानन्द	:	आप्तपरीक्षा, वीरसेवा मन्दिर, सहारनपुर 1949
विद्यानन्द	:	प्रमाणपरीक्षा, जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
विद्यारण्य	:	पञ्चदशी, निर्णय सागर, बम्बई 1949
विद्यारण्य	:	विवरणप्रमेय, अच्युतग्रन्थमाला, काशी 1996
विश्वनाथ न्यायपञ्चानन	:	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, निर्णय सागर, बम्बई
शंकराचार्य	:	शारीरकभाष्य, निर्णय सागर, बम्बई 1934
शालिकनाथमिश्र	:	प्रकरणपञ्जिका, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय 1961
श्रीधर	:	न्यायकन्दली, विजयनगरम् संस्कृत सीरीज, बनारस 1895

श्रीनिवासशास्त्री	:	वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध दर्शन का विवेचन, कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरूक्षेत्र–1968
हेमचन्द्र	:	प्रमाणमीमांसा सिंधीजैनग्रन्थमाला, अहमदाबाद, कलकत्ता 1939
अन्नं भट्ट	:	तर्कसंग्रह, भण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना 1930
बसुबन्धु	:	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, नव नालन्दा महाबिहार रिसर्च पब्लिकेशन, नालन्दा, 1957
भट्टोजि दीक्षित	:	वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी मोती लाल बनारसी दास 1979
चित्सुखाचार्य	:	तत्त्वप्रदीपिका, उदासीन संस्कृत विद्यालय काशी, 1956
दिङ्.नाग	:	प्रमाणसमुच्चय, मैसूर विश्वविद्यालय प्रकाशन, मैसूर 1930
देवनन्दी	:	सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1935
डा0 राधाकृष्णन्	:	भारतीय दर्शन भाग–II राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1983
डा0 चक्रधर विजल्यान	:	भारतीय न्यायशास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ 1983
धर्मकीर्ति	:	न्यायबिन्दु, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955
धर्मकीर्ति	:	प्रमाणवार्त्तिक, किताब महल, इलाहाबाद 1943
धर्मोत्तर	:	धर्मोत्तर प्रदीप, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, 1955
धर्मोत्तर	:	न्यायबिन्दुटीका, काशी प्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था पटना 1955
धर्मभूषण	:	न्यायदीपिका, वीरसेवा मन्दिर, सहारनपुर, 1945

धर्मराजाध्वरीन्द्र	:	वेदान्त परिभाषा, व्याख्या- श्री गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1983
गौतम	:	न्यायसूत्र, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, कलकत्ता, 1936
गंगेश उपाध्याय	:	तत्त्वचिन्तामणि, चौखम्बा, प्रकाशन वाराणसी, 1917
गदाधर भट्टाचार्य	:	गदाधरी, चौखम्बा, प्रकाशन, वाराणसी, 1917
हेमचन्द्र	:	प्रमाणमीमांसा, सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, 1939
हरिदास	:	हरिदासवृत्ति, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी 1962
बसुबन्धु	:	अभिधर्मकोश, काशी विद्यापीठ बनारस 1988
प्रभाचन्द्र	:	न्यायकुमुदचन्द्र, बौद्ध भारती, वाराणसी 1968
ईश्वर कृष्ण	:	सांख्यकारिका, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1963
जैमिनि	:	मीमांसासूत्र (जैमिनिसूत्र), आनन्दश्रम मुद्रणालय, पूना 1929
जयन्त भट्ट	:	न्याय मंजरी, भाग-1, प्राच्यविद्या संशोधनालय, मैसूर, 1970
जयन्त भट्ट	:	न्याय मंजरी, भाग-2 चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1936
कुमारिल भट्ट	:	श्लोकवार्त्तिक, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास 1940
कुमारिल भट्ट	:	न्यायरत्नाकर, चौखम्बा, संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1953
कुमारिल भट्ट	:	तन्त्रवार्त्तिक, आनन्दाश्रम, पूना, 1970
महर्षिकणाद	:	वैशेषिक सूत्र चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1933
केशव मिश्र	:	तर्कभाषा, व्याख्या- बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, द्वितीय संस्करण 1976

कुन्दकुन्दाचार्य	:	प्रक्चनसार, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई 1936
मधुसूदन सरस्वती	:	अद्वैत सिद्धि, निर्णय सागर मुद्रणालय, बम्बई 1977
माध्वाचार्य	:	सर्वदर्शनसंग्रह, भण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना,1951
महेन्द्र कुमार जैन	:	जैन तर्कभाषा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी 1978
नारायणभट्ट	:	मानमेयोदय, थियोसाफिकल, पब्लिशिंग हाउस, अड्यार, मद्रास 1933
पाणिनि	:	अष्टाध्यायी, रामलाल, कपूर ट्रष्ट, बहालगढ़, सोनीपत, 1973
प्रशस्तपाद	:	प्रश[illegible]दभाष्य, निर्देशक अनुसन्धान संस्थान वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1963
प्रभाचन्द्र	:	प्रमेयकमलमार्तण्ड, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, द्वितीय संस्करण 1941
प्रो0 संगमलाल पाण्डेय	:	भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1981
प्रभाकर मिश्र	:	बृहती, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1933
पार्थसारथि मिश्र	:	[illegible]का, चौखम्बा, प्रकाशन 1913
रत्नकीति	:	रत्नकीर्ति निबन्धावली, के0 पी0 जायसवाल अनुशीलन संस्था पटना, 1955
रंगनाथ पाठक	:	स्फोट दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1967
सिद्धसेन दिवाकर	:	न्यायावतार, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई 1936
श्री हर्ष	:	खण्डन खण्डखाद्य, अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी, स0 2018
एस0 [illegible]म्	:	न्यायभूषण, गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल, मैनुस्क्रिप्ट

शास्त्री		लाईब्रेरी, मद्रास 1961
शबर स्वामी	:	शाबरभाष्य, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना 1951
प्रो0 जे0 एस0 श्रीवास्तव	:	अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका, किताब महल, इलाहाबाद
शालिकनाथ मिश्र	:	प्रकरणपञ्जिका, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मुद्राणालय, काशी 1961
उदयन	:	किरणावली, चौखम्बा, प्रकाशन, वाराणसी 1919
उद्योतकर	:	न्यायवार्त्तिक, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, कलकत्ता 1936
उम्बेक	:	श्लोकवार्त्तिकतात्पर्य टीका, मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन, मद्रास, 1940
उमास्वामी	:	तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी 1949
वात्स्यायन	:	न्यायभाष्य कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, कलकत्ता 1936
वाचस्पति मिश्र	:	सांख्यतत्वकौमुदी सत्य प्रकाशन बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद 1962
वाचस्पति मिश्र	:	न्यायकणिका, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, 1978
वाचस्पति मिश्र	:	न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थमाला, कलकत्ता 1936
विश्वनाथ	:	सिद्धान्तमुक्तावली, चौखम्बा प्रकाशन, वारणसी 1951
विज्ञानभिक्षु	:	सांख्यप्रवचनभाष्य, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी 1951
व्यास	:	व्यासभाष्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, गंगाघाट, वाराणसी 1963
BELVALKER, S.K	:	Upman in Indian Philosophy, Eastern Book linkers,

		Jawahar Nagar, Delhi, 1980.
CHATTERJEE, S.C	:	The Nyay Theory of Knowledge Calcutta University Press. Calcutta. 1950
DATTA, D.M	:	The Six Ways of Knowing, Calcutta University Press, Calcutta, Second Edition, 1978
JHA, G.N	:	.;- Slokarartika, English Translation, Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1980
MOTI LAL, B.K	:	Perception, Clarendon Press Oxford,1986
MOHANTI, J.N	:	Gangesha's Theory of Truth.
RANADEL, H.,N	:	Fragments from Dinnage, Royal Asiatic Society London,1929.
STCHERBATSKY,T	:	Buddhist Logic, Dover Publication, New York, 1962.
JHA.G.N	:	Prabhakar School of Purva Mimansa.
SHASTRI , D.N	:	Critique of Indian Realism Agra University.1964.
Th. STCHERBATSKY	:	Buddhist Logic, Dover Publications Newyork1962
JWALA PRASAD	:	History of Indian Epistemology Lahore, 1939
M.R. BODAS	:	Historical Survey of Indian Logic, Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, Vol-XIX
HENRY N. RANDLE	:	Indian Logic in the early Schools, Oxford 1930